अनुभवसूत्रम्

श्रीमायिदेवकृतम्

संपादकः

पं० गजाननशास्त्रिमुसलगाँवकरः

प्रकाशकः

शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्

जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी - २२१ ००१

शोधप्रकाशन ग्रन्थमाला — १३

अनुभवसूत्रम्

श्रीमायिदेवकृतम्

संपादकः

वैदिकतिलक-मीमांसाभूषण
पण्डितश्रीगजाननशास्त्रिमुसलगाँवकरः
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयीयप्राच्यविभागे
धर्मविज्ञानसंकाये मीमांसाविभागाध्यक्षचरः

प्रकाशकः

शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्

जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी - २२१ ००१

प्रकाशक
शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्
डी. ३५/७७, जंगमवाड़ीमठ
वाराणसी - २२१ ००१

तिरुमल तिरुपति देवस्थानम् की आर्थिक सहायता से प्रकाशित

प्रथमं संस्करणम् १९९८
प्रतियाँ : ७५०

मूल्यम् : सजिल्द रु. २००
अजिल्द रु. १२५

अक्षर संयोजन
शिव-शक्ति कम्प्यूटर प्रोसेस
जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी

मुद्रक
जौहरी प्रिंटर्स
शिवाजी नगर, महमूरगंज, वाराणसी

Research Publications Series — 13

ANUBHAVASŪTRA

OF

MĀYIDEVA

Edited by

Pt. Gajānana Śāstri Musalagaonkar

Ex-Head, Department of Mīmāmsā
Faculty of Sanskrit Vidyā Dharma Vijñāna
Banaras Hindu University

SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM
D. 35.77, Jangamawadimath, Varanasi - 221 001

Published by :

SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM
D. 35/77, Jangamawadimath
Varanasi - 221 001

Published with the financial assistance from
the Tirumala Tirupati Devasthanams

First published 1998

Copies : 750

ISBN 81-86768-23-8 (Hb)
ISBN 81-86768-24-6 (Pb)

Price : Rs.200 (Hb) Rs.125 (Pb)

Laser Typeset at :

Shiva-Shakti Computer Process
Jangamawadimath, Varanasi - 221 001

Printed at :

Jauhari Printers
Mahmoorganj, Varanasi 221 010



श्रीमत्काशीज्ञानसिंहासनाधीश्वर

श्री १००८ जगद्गुरु डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी
के

शुभाशीर्वचन

भारतीय सनातन धर्म-दर्शनों में वीरशैव धर्म-दर्शन का एक विशिष्ट स्थान है। इस धर्म-दर्शन के प्रतिपादक सहस्राधिक ग्रन्थ संस्कृत, हिन्दी, तेलुगु, तमिल आदि भाषाओं में उपलब्ध हैं। इनमें कुछ प्रकाशित हैं और कुछ अप्रकाशित भी हैं। हमारे देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों और अनुसन्धान-संस्थानों से अप्रकाशित साहित्य-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य चल रहा है। इसी शृंखला में राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (नई दिल्ली) द्वारा मान्यता-प्राप्त काशी जंगमवाडी महामठ के शैवभारती शोध प्रतिष्ठान द्वारा अनेक अप्रकाशित ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य चल रहा है। इस कार्य में काशी के मूर्धन्य विद्वानों का सहयोग निरन्तर प्राप्त हो रहा है।

प्रस्तुत 'अनुभवसूत्र' नामक सिद्धान्त ग्रन्थ का अनुवाद और संपादन-कार्य वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, बहुशास्त्रविशारद राष्ट्रियपण्डित श्री गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर द्वारा हुआ है। यह आनन्द का विषय है।

'अनुभवसूत्र' दार्शनिक कवि मायिदेव की अपूर्व कृति है। श्री मायिदेव का जन्म उत्तर कर्नाटक के बीजापुर मण्डलान्तर्गत 'ऐपुर' (ऐहोळी) गाँव में हुआ था। पुरातत्त्ववेत्ता जानते हैं कि महाकवि भारवि का परिचायक शिलालेख यहीं से प्राप्त हुआ था। यह गाँव 'मलप्रभा' नदी के किनारे विद्यमान है। मायिदेव का घराना कुलीन व पाण्डित्यपूर्ण था। इनके वंश में भीमनाथ प्रभु, महागुरु कालेश्वर, भूपनाथ, नाकराज प्रभु और इनके पिता सङ्गमेश्वर ये सभी संस्कृत भाषा और वीरशैव शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। इस प्रकार

पाण्डित्य-परम्परा से युक्त कुल में जन्म होने के कारण ये वंशानुगत पण्डित थे। यह जानकारी इनकी कृतियों के द्वारा अवगत होती है। इन्होंने संस्कृत और कन्नड भाषा में कुल छः ग्रन्थों की रचना की हैं। इनमें — १. अनुभवसूत्रम्, २. विशेषार्थप्रकाशिका, ३. शतकत्रयम् — ये तीनों रचनाएँ संस्कृत में हैं। और कन्नड में हैं — १. एकोत्तरशतस्थलषट्पदि, २. शतकत्रय, ३. वचन (इनमें वचन साहित्य उपलब्ध नहीं है)। इनका स्थितिकाल श्रीविरूपाक्ष पण्डित विरचित 'चन्नबसव पुराण' के अनुसार ख्रीष्ट १५वीं शताब्दी माना जाता है।

प्रस्तुत 'अनुभवसूत्र' ग्रन्थ में श्री मायिदेव ने षट्स्थलसिद्धान्त का बहुत सुन्दर विवेचन किया है। श्रद्धा, निष्ठा, अवधान, अनुभव, आनन्द और सामरस्य नामक षड्विध भक्तियों का आश्रय लेकर अङ्गस्थल का साधक कैसे क्रमशः लिङ्गरूप को प्राप्त होता है, इस विषय को मायिदेव ने बहुत सरल और स्पष्ट रूप से समझाया है। ग्रन्थ की भाषा सरल है, अतः अभी तक अनुभवसूत्र के प्रकाशित सभी ग्रन्थ मूल रूप में ही उपलब्ध होते हैं। लेकिन शैवभारती शोध प्रतिष्ठान का सभी ग्रन्थों को अनुवाद के साथ प्रकाशित करने का उद्देश्य रहने के कारण इस ग्रन्थ को भी हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित कराया गया है। पं० गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर जी ने सरल और संक्षेप में इसका अर्थ-विश्लेषण किया है, अतः यह ग्रन्थ विद्यार्थियों के लिये उपादेय हो गया है।

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के निदेशक राष्ट्रियपण्डित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदीजी के मार्ग-दर्शन में हो रहे हमारे शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के सभी कार्य सुचारू रूप से चल रहे हैं। हम आशा करते हैं कि इनके कुशल निदेशकत्व में यह प्रतिष्ठान अतिशीघ्र ही एक उच्चकोटि का शोधसंस्थान हो जायगा। शोधसंस्थान के निदेशक के मार्ग-दर्शन पर श्री सिद्धराम देव हिप्परगी ने विषय-सूची और श्लोकार्धानुक्रमणी का संयोजन किया है। डॉ. जी. सी. केण्डदमठ, केन्द्रीय ग्रन्थालय, काशी हिन्दु विश्वविद्यालय ने अपनी देखरेख में जंगमवाडीमठ के शिव-शक्ति कम्प्यूटर प्रोसेस में कार्यरत श्री चिदानन्द ओमशिवय्या हिरेमठ (कसगी) तथा श्री राजशेखर जी. हिरेमठ से आकर्षक अक्षर-संयोजन कराया है। हम सबको शुभाशीर्वाद देते हैं। अनुभवसूत्र के अनुवादक पंण्डित श्री गजानन शास्त्री गुसलगाँवकरजी की आयुरारोग्य की कामना करते हुये इनके द्वारा इसी तरह साहित्य सेवा होती रहे, ऐसी मङ्गलमय कामनाओं के साथ हम अपने आशीवर्चन को पूर्ण करते हैं।

ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः

।। श्री ।।

प्रस्तावना

वीरशैव धर्म-दर्शन का परिचय

वीरशैव धर्म-दर्शन का उद्गम काल अत्यन्त प्राचीन माना जाता है। भगवान् शिव के आदेश के अनुसार शिवगणों में अत्यन्त प्रमुख श्री रेवणाराध्य, श्री मरुळाराध्य, श्री एकोरामाराध्य, श्री पण्डिताराध्य और श्री विश्वाराध्य इन पाँच शिवगणों ने भूलोक में शिवलिङ्गों से अवतार लेकर इस धर्म-दर्शन की स्थापना की है। इनके द्वारा संस्थापित पाँच धर्मपीठ श्री रम्भापुरी, श्री उज्जैन, श्री केदार, श्री श्रीशैल और श्री काशी में अनादि काल से विद्यमान हैं। इन पाँचों पीठों में उपलब्ध दानपत्र और शिलाशासनों से यह सिद्ध होता है कि ये पाँचों पीठ और उनकी आचार्य-परम्परा हजारों-हजारों साल पुरानी है। इस तरह वीरशैव धर्म-दर्शन और उसकी परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है।

इस परम्परा के अनुयायी भक्तगण भारत के अनेक प्रान्तों में कम-अधिक संख्या में उपलब्ध हैं। कर्नाटक, महाराष्ट्र, आन्ध्र और तमिलनाडु में इनकी संख्या अधिक है और अन्य प्रान्तों में ये कम संख्या में हैं। १२वीं शताब्दी में कर्नाटक में लब्धजन्मा श्री बसवेश्वर ने वीरशैव धर्म की दीक्षा लेकर इस धर्म का अत्यधिक प्रचार और प्रसार किया। इनके काल में बहुत से वीरशैव सन्त एकत्रित हुए और कन्नड भाषा में पद्य के रूप में 'साहित्य' की रचना की। इस समय वह एक बहुत बडा साहित्य हो गया है।

वीरशैव मत का सिद्धान्त है कि परमेश्वर ही 'परमशिव' है। वह सर्वत्र व्याप्त है, प्रत्येक प्राणी के शरीर में वह रहता है। उसकी मानसपूजा करनी चाहिये। सभी को अन्तर्मुख होना चाहिये। स्वतन्त्र वृत्ति से शिवभक्ति करनी चाहिये।

वीरशैव सम्प्रदाय की विशेषताएँ

इसके मुख्य-मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार हैं —

१. व्यक्ति-व्यक्ति में कोई भेद नहीं, सभी समान हैं।
२. शरीर पर शिवलिंग धारण करना।
३. पंचसूतकों को न मानना।
४. सामाजिक जीवन में शारीरिक श्रम का महत्त्व।
५. सात्त्विक शाकाहार करना तथा प्राणिहिंसा न करना।
६. 'एकेश्वरवाद' पर विश्वास करना।

'सिद्धान्तशिखामणि' ग्रन्थ में 'वीरशैव' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है —

विद्यायां शिवरूपायां विशेषाद् रमणं यतः ।
तस्मादेते महाभागा वीरशैवा इति स्मृताः ।।

अर्थात् शिवरूप विद्या में विशेष रममाण होने के कारण इन महानुभावों को 'वीरशैव' कहा गया है।

वीरशैवों की वंशोत्पत्ति वीर, नन्दी, भृंगी, वृषभ और स्कन्द — इन पाँच शिवगणों से मानी जाती है। ये पाँच वीरशैवों के गोत्रपुरुष हैं। ये पाँच गण भगवान् शिव के सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान मुखों से प्रकट हुए थे। भगवान् शिव के ही ईशान मुख से पञ्चवक्त्र शिवगण प्रकट हुए। उनके पञ्चमुखों से मखारि, कालारि, पुरारि, स्मरारि और वेदारि ये पाँच शिवभक्त प्रकट हुए। इन पाँच शिवभक्तों को पञ्चमशाली कहते हैं। इसी तरह पूर्वोक्त नन्दी, भृंगी आदि शिवगणों के वंश में उत्पन्न वीरशैवों को 'जङ्गम' और पंचभक्त गणों से उत्पन्न वीरशैवों को 'पञ्चमशाली' कहते हैं। वीरशैव परम्परा में जङ्गम और पञ्चम, अर्थात् पञ्चमशाली ये दो वंश सुप्रसिद्ध हैं। वीरशैव साहित्य मूलतः संस्कृत भाषा में विद्यमान है। उसी का अनुवाद अपने अपने ढंग से तत् तत् प्रान्तीय सन्तों ने किया है।

वीरशैवों के तीन प्रकार

१. **सामान्य वीरशैव** — षडध्वशोधनादिपूर्वक और शिवदीक्षा ग्रहण बिना किये केवल गुरुकृपा से ही शक्तिपातपूर्वक कलशस्थापन, लिंगसंस्कार, भस्मधारण, रुद्राक्षधारण, मन्त्रोपदेशस्वीकार और शिवलिंगधारण करके लिंग का तथा गुरु-

जंगम का पूजन करनेवाले, किन्तु शिवेतर देवताओं की पूजा न करने वाले सामान्य वीरशैव कहलाते हैं।

२. **विशेष वीरशैव** – कुण्डमण्डप, गंगा आदि तीर्थों के पाँच कलशों में रेणुकादि पाँच आचार्यों की पूजा, जलाधिवास, धान्याधिवास तथा रुद्र-पञ्चब्रह्मादि वैदिक मंत्रों से षडध्वपूर्वक शिवलिंग की पूजा करने वाले तथा विधिप्रोक्त शिवलिंग का ग्रहण करके शिवलिंग की त्रिकाल-पूजा और गुरु-जंगम की सेवा करने वाले अष्टावरणसम्पन्न तथा शिवाचार आदि पाँच आचारों का पालन करनेवाले विशेष वीरशैव कहलाते हैं।

३. **निराभारी वीरशैव** – आश्रमधर्मों का त्याग करके शहर में पाँच रात और ग्राम में एक रात से अधिक नहीं बिताते और भक्त-जनों को उपदेश करते हैं, वे निराभारी वीरशैव कहलाते हैं।

वीरशैव सम्प्रदाय के ग्रन्थ और ग्रन्थकर्ता

नीलकण्ठभाष्य, श्रुतिसारभाष्य, सोमनाथभाष्य, रेणुकभाष्य, शिवाद्वैतमञ्जरी, सिद्धान्तशिखामणि, वीरशैवचिन्तामणि, वीरमाहेश्वराचारसंग्रह, वीरशैवाचारकौस्तुभ, बसवराजीय आदि ग्रन्थ वीरशैवों में आदरणीय हैं। उसी प्रकार कामिकादि-वातुलान्त २८ आगम और १८ पुराणों में से 'स्कन्द', 'लिङ्ग' आदि शैवपुराण, उसी प्रकार शैवमतानुकूल उपनिषद् ग्रन्थ प्रमाण रूप माने गये हैं।

नीलकण्ठ शिवाचार्य, शिवयोगी शिवाचार्य, श्रीपति पण्डिताराध्य, मञ्चणपण्डित, षडक्षरदेव, मुप्पिन षडक्षरदेव, मग्गि मायदेव, नंजणार्य, निजगुणयोगी, बसवेश, चन्नबसव, अक्कमहादेवी, नागाम्बा, नीलाम्बा आदि ग्रन्थकार और वचनकार संस्कृत एवं कन्नड़ साहित्य में प्रसिद्ध हैं।

तत्त्वज्ञान

वेदान्त सम्प्रदाय में जैसे अद्वैत, द्वैत आदि सम्प्रदाय हैं, उसी तरह वीरशैव सम्प्रदाय में 'शक्तिविशिष्टाद्वैत' सम्प्रदाय माना गया है। भगवत्पूज्यपाद श्री शंकराचार्य का 'अद्वैत सम्प्रदाय' संन्यासप्रधान है, वह कर्मसंन्यासपूर्वक ब्रह्मवाद को स्थापित करता है, किन्तु वीरशैवों का **शक्तिविशिष्टाद्वैत** सिद्धान्त **कर्मप्रधान** है, वह निष्काम कर्म को प्रस्तुत करता है।

वीरशैवमत के आचार्य **'शक्तिविशिष्टाद्वैत'** शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं — "शक्तिश्च शक्तिश्च शक्ती, ताभ्यां विशिष्टौ जीवेशौ शक्तिविशिष्टौ, तयोरद्वैतं शक्तिविशिष्टाद्वैतम्।" उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि 'शक्तिविशिष्ट जीव और शक्तिविशिष्ट शिव' — इन दोनों का सामरस्य, अर्थात् परस्पर एकाकार होना ही 'शक्तिविशिष्टाद्वैत' कहलाता है।

शक्ति के दो भेद हैं – एक स्थूल चिदचिद्विशिष्ट शक्ति और दूसरी सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट शक्ति। स्थूल चिदचिद्विशिष्ट शक्ति से 'जीव' का और दूसरी सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट शक्ति से 'परशिव' का ज्ञान होता है। 'शक्ति' और 'परशिव' — ये दोनों परस्पर भिन्न नहीं हैं। 'अग्नि' और उसकी 'दाहकत्व शक्ति' — ये दोनों जैसे अभिन्न हैं, उसी प्रकार 'शक्ति' और 'परमात्मा' ये दोनों अभिन्न ही हैं। 'शक्ति' 'परशिव' में गुप्त रूप से रहती है।

जगत् – यह जगत् शक्तिविशिष्ट परशिव से उत्पन्न हुआ है। वह 'मिथ्या' नहीं है, अपितु 'सत्य' है। श्री रेणुकाचार्य का कहना है कि जिस प्रकार 'पुष्प' और 'फल' वृक्ष से भिन्न नहीं हैं, उसी तरह **'परशिव'** से उत्पन्न हुआ यह **'जगत्'** उससे भिन्न नहीं है। भगवत्पूज्यपाद शंकराचार्य का 'अद्वैतवाद' — "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" का उद्घोष करता है, किन्तु 'वीरशैव सम्प्रदाय' 'ब्रह्म' के समान 'जगत्' को भी 'सत्य' कहता है। वीरशैवों का कहना है कि जिस प्रकार 'कूर्म' अपने पैरों को बाहर फैलाकर जल में चलता रहता है, किन्तु जब वह चुप-चाप बैठा रहता है, तब वह अपने पैरों को संकुचित कर लेता है, अर्थात् अपने पेट के नीचे उन्हें छिपा लेता है ; उसी तरह 'परशिव' भी अपने में नित्य सम्बन्ध से रहने वाले 'जगत्' का कभी विकास करता है और कभी उसका संकोच कर लेता है। कूर्म के पैरों का बाहर निकलना देखकर उनकी उत्पत्ति हुई कहना और उनके संकुचित कर लेने पर उनका नाश हुआ कहनां जैसे उपहासास्पद है, उसी तरह सत्य तथा नित्य जगत् के उत्पत्ति-विनाश को बताना भी हास्यास्पद ही है। इसलिये **वीरशैव** उत्पत्ति-विनाश शब्दों का प्रयोग न कर उन्हें 'शक्तिविकास' और 'शक्तिसंकोच' शब्द से कहा करते हैं।

जीव – 'जीव' तो 'शिव' का अंशरूप है। उन दोनों में पारमार्थिक भेद और अभेद ही है। जिस प्रकार अग्नि और तदुत्पन्न 'कण' — इनमें अत्यन्त भेद नहीं और अभेद भी नहीं होता, उसी प्रकार वस्तुतः शिव और जीव की

स्थिति है। यदि 'अंश' और 'अंशी' में अभेद माना जाय, तो अग्नि के समान ही अग्निकणों से भी 'पाकादिक्रिया' होनी चाहिये। यदि 'अग्नि' और उसके 'कणों' को 'अत्यन्त भिन्न' मानते हैं, तो 'अग्नि' से भिन्न 'जल' के समान अग्निकणों में भी शीतलता का अनुभव होना चाहिये, किन्तु वैसा नहीं होता। तथैव यदि शिव और शिव का अंशरूप जीव दोनों में यदि अभेद माना जाय, तो शिव के समान ही जीव में सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व आदि गुण मानने होंगे, किन्तु दोनों के गुण समान नहीं हैं। यदि दोनों में भेद माना जाय, तो शिव से भिन्न घट-पट आदि अचेतन पदार्थों में सकल पदार्थ-ज्ञान का जैसा अभाव हुआ करता है, वैसा ही जीव में मानना होगा, किन्तु जीव में घट आदि विषयों का ज्ञान रहता है, अतः शिव और जीव दोनों का पारमार्थिक भेदाभेद स्वीकार करना पड़ता है।

शिव — सच्चिदानन्दरूप सत्य, नित्य, आद्यन्तरहित तथा सर्वशक्तिसमन्वित 'परशिव-ब्रह्म' में अविनाभाव सम्बन्ध से स्थित 'विमर्शशक्ति' का **स्फुरण ही** तत्त्व के रूप में परिणत होता है। ये 'तत्त्व' छत्तीस प्रकार के हैं। उनमें से मुख्य तत्त्वों के नाम शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, माया, विद्या, पुरुष, प्रकृति, मन, अहंकार आदि हैं। जिस समय 'परशिव' ज्ञानशक्ति के साथ एकाकार होकर **'मैं सर्वज्ञ हूँ'** यह अभिमान करने लगता है, उस समय उसे 'शिवतत्त्व' संज्ञा प्राप्त होती है। वही 'परशिव' अपनी 'क्रियाशक्ति' में लीन होकर 'मैं सर्वकर्ता हूँ' यह अभिमान करने लगता है, उस समय उसी को 'शक्ति' के नाम से कहा जाता है।

साधन मार्ग — वीरशैवों ने अपने 'साधनमार्ग' को 'षट्स्थल' सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया है। 'ॐ नमः शिवाय' यह षडक्षरी मन्त्र उनका उपासना मन्त्र है। उस कारण वीरशैवों ने साधन मार्ग के 'षट्स्थल' बताये हैं और अन्य आनुषंगिक बातों को भी षट्संख्या में ही निविष्ट किया है। वीरशैवों ने स्थल शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है —

स्थीयते लीयते यत्र जगदेतच्चराचरम् ।
तद् ब्रह्म स्थलमित्युक्तं स्थलतत्त्वविशारदैः ।।

अर्थात् यह चराचर जगत् जिससे उत्पन्न होकर जिसमें लीन होता है, उस **ब्रह्म** को **'स्थल'** कहते हैं। 'स्थल' के दो प्रमुख भेद हैं — लिंगस्थल और अंगस्थल। लिंगस्थल, अर्थात् **'शिव'** और अंगस्थल **'जीव'** का वाचक है। लिंग ज्योतिःस्वरूप अथवा प्रकाशस्वरूप रहता है। अंग का, अर्थात् जीव का लिंग, अर्थात् परशिव

के साथ ऐक्य होता है, लिङ्गाङ्गसामरस्य होता है। साधक का यही परम साध्य है। अंग का लिंग से सामरस्य प्राप्त करने का यह प्रवास कुछ विश्राम-स्थलों से विशिष्ट हुआ करता है। ये विश्राम स्थल छ: हैं —

१. **भक्त स्थल** – यहाँ पर साधक की 'शिव' के प्रति भक्ति उत्पन्न होती है।

२. **माहेश्वर स्थल** – यहाँ पर 'शिव ही मुक्तिदाता है' — इस उक्ति पर तथा 'शिव' की 'सर्वश्रेष्ठता' पर साधक विश्वास करने लगता है। तब वह साधक नीति-नियमों का पूरी तरह से निष्ठा के साथ पालन करने लगता है।

३. **प्रसादी स्थल** – यहाँ पर 'जीव' अपने चित्त की प्रसन्नता के लिये और उसकी निर्मलता के लिये पत्र, पुष्प, फल, जल आदि का 'शिव' को समर्पण कर उसे प्रसाद के रूप में ग्रहण करता है।

४. **प्राणलिंगी स्थल** – यहाँ पर जीव 'शिवात्मक ज्योति' का ध्यान करता रहता है और बाह्य वस्तुओं से पराङ्मुख होता है।

५. **शरण स्थल** – इस स्थल की विशेषता 'सती-पतिभाव' है। इसमें 'जीव' एक 'पतिव्रता स्त्री' के समान 'शिव' के प्रति अव्यभिचरित निष्ठा रखता है। इस स्थल में शरण-शरण्यभाव 'शिव' के प्रति रहता है। यहाँ पर 'शरीर' का द्वैत रहने पर भी 'मन' का अद्वैत रहता है।

६. **ऐक्य स्थल** – यहाँ पर जीव-शिव की पूर्ण एकता का अनुभव होने लगता है। इस कारण शिवानन्द का लाभ उसे होता है। यही 'लिंगांगसामरस्य' कहलाता है।

'लिंग' के भी छ: भेद हैं — (१) आचारलिंग, (२) गुरुलिंग, (३) शिवलिंग, (४) जंगमलिंग, (५) प्रसादलिंग और (६) महालिंग।

'वीरशैव' दर्शन का नामान्तर 'शक्तिविशिष्टाद्वैत' है। इसके अनुसार एकमात्र 'शिव' ही परम तत्त्व है। यह 'शिव' पूर्णाहंतारूप और पूर्ण स्वतन्त्रता स्वरूप है। 'स्थल' यह उसकी पारिभाषिक संज्ञा है। जब इस 'परशिव' को 'उपास्य-उपासक' भेद से क्रीडा करने की इच्छा होती है, तब उस 'शिव' में कम्पन उत्पन्न होता है। उस कारण 'स्थलरूप शिव' के 'शिव' और 'जीव' अथवा 'लिङ्ग' और 'अङ्ग' — ये दो भेद हो जाते हैं। 'शिव' चैतन्यात्मक है और 'जीव' उसका अंश है। शक्ति और शिव का अभेद रहता है। शक्ति शिव से कभी भी पृथक्

नहीं होती। इस शक्ति के स्थूल और सूक्ष्म — ये दो भेद होते हैं। शक्ति के क्षोभ से ही 'स्थल' में 'लिङ्गाङ्ग भेद' उत्पन्न होता है। लिंग की शक्ति को 'कला' कहते हैं, उससे 'प्रवृत्ति' हुआ करती है। 'अंग' की शक्ति को 'भक्ति' कहते हैं, उससे 'निवृत्ति' हुआ करती है। 'लिंग' के तीन प्रकार (भेद) हैं — (१) भाव लिंग, (२) प्राण लिंग, (३) इष्ट लिंग। इसी प्रकार 'अंग' के तीन प्रकार (भेद) हैं — (१) योगांग (कारणरूप प्राज्ञ), (२) भोगांग (सूक्ष्मरूप तैजस), (३) त्यागांग (स्थूलशरीररूप विश्व)। जीव की अपनी स्वाभाविक भक्ति (शक्ति) से 'परम शिव' के साथ ऐक्य (सामरस्य) हो जाता है। यही 'मुक्ति' कहलाती है। परम शिव के अनुग्रह से 'जीव' को 'भक्ति' प्राप्त होती है। भक्ति की प्राप्ति के लिये 'गुरुदीक्षा' लेना आवश्यक है। दीक्षा के तीन प्रकार बताये गये हैं — (१) वेधा दीक्षा, (२) मन्त्र दीक्षा, (३) क्रिया दीक्षा। दीक्षा प्राप्त होने पर ही 'जीव' शिवत्व को प्राप्त कर सकता है।

महाप्रभु श्रीमायिदेव विरचित 'अनुभवसूत्र', जो वीरशैवागम का विशिष्ट ग्रन्थ है, उसे दो संस्करणों के आधार पर परिष्कृत कर हिन्दी अनुवाद एवं टिप्पणियों के साथ श्री जगद्गुरु विश्वाराध्य ज्ञानसिंहासनाधीश्वर श्री १००८ जगद्गुरु डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी के आदेशानुसार लोककल्याणार्थ प्रकाशित किया जा रहा है।

प्रस्तुत अनुभवसूत्र में आठ अधिकरण हैं —

१. **प्रथम अधिकरण** में 'पारम्पर्यक्रम' बताया गया है। इसं अधिकरण में ३९ श्लोक हैं।

२. **द्वितीय अधिकरण** में 'स्थलनिर्देश' बताया गया है। इस अधिकरण में ३४ श्लोक हैं।

३. **तृतीय अधिकरण** में 'लिंगस्थलनिरूपण' किया गया है। इस अधिकरण में ६४ श्लोक हैं।

४. **चतुर्थ अधिकरण** में 'अंगस्थलनिरूपण' किया गया है। इस अधिकरण में ६४ श्लोक हैं।

५. **पञ्चम अधिकरण** में 'लिंगांगसंयोगविधि' बताई गई है। इस अधिकरण में ९० श्लोक हैं।

६. **षष्ठ अधिकरण** में 'सर्वांगलिङ्गसाहित्य' वर्णित है। इस अधिकरण में ५६ श्लोक हैं।

७. **सप्तम अधिकरण** में 'अर्पणसद्भाव' का निरूपण है। इस अधिकरण में ६९ श्लोक हैं।

८. **अष्टम अधिकरण** में 'क्रियाविश्रान्ति' का वर्णन है। इस अधिकरण में ९३ श्लोक हैं।

महाशिवरात्रि संवत् २०५४
जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी।

विद्वद्वशंवद
गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर

विषय-सूची

आशीर्वचन I-II

प्रस्तावना III-X

प्रथम अधिकरण

मंगलाचरण १

ग्रन्थकार का वंशवर्णन २

इस ग्रन्थ का शिवागम-उपजीव्यत्व ६

अष्टाधिकरणात्मक इस ग्रन्थ का विषयानुक्रम ७

द्वितीय अधिकरण

स्थल शब्द का उपपत्ति सहित अर्थविचार ९

दो स्थलों का प्रकार और स्वरूप ११

शक्ति के दो प्रकारों का वर्णन १२

कला और भक्ति का स्वरूप १३

तृतीय अधिकरण

लिंग शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थविचार १६

लिंगत्रय का स्वरूपनिरूपण १७

लिंगत्रय के दो विभागों के अनुसार षट्स्थलविवरण १९

चिच्छक्ति आदि शक्तियों से शान्त्यतीतोत्तरादि छः कलाओं की उत्पत्ति २०

षट् (छः) शक्तियों के नाम २०

महालिंगादि षट्स्थलों का लक्षणनिरूपण २१

चतुर्थ अधिकरण

अंग शब्द की व्युत्पत्ति २५

अंगस्थल के योगाङ्गादि तीन प्रकारों का निरूपण २६

योगाङ्गादि तीन प्रकारों के नाम का अर्थनिरूपण २६
अङ्गत्रय का सूक्ष्म-कारण-स्थूल शरीररूपत्व २६
सुषुप्ति-स्वप्न-जागरण नामक अवस्थात्रय २६
योगाङ्ग-भोगाङ्ग-त्यागाङ्ग प्राज्ञ-तैजस-विश्व का स्वरूप २६
अङ्गत्रय के दो विभागों के अनुसार उत्पन्न छः अङ्गस्थल २७
षडङ्गस्थल का कारणादि शरीरत्रयरूपत्व २७
जीवात्मा का प्रकारत्रयरूपत्व २७
ऐक्य-शरणादि स्थलभेदों का स्वरूप २७
भक्तिवैचित्र्य से उत्पन्न अङ्गस्थल के छः प्रकार २८
भक्ति के छः प्रकारों का विवरण एवं नामोद्देश २८
तत्तत् भक्ति से विशिष्ट ऐक्य आदि छः स्थलों का लक्षण ३०
ऐक्य से भक्त पर्यन्त छः स्थल ३२
आत्म-आकाश इत्यादि छः अङ्गों की विषयात्मकता ३२
ऐक्य-शरण तथा प्राणलिङ्गी की ज्ञानात्मकता ३३
प्रसादि-महेश तथा भक्त की क्रियात्मकता ३३

पञ्चम अधिकरण

लिङ्गाङ्ग-संयोग पद का अर्थ ३५
शक्तिसंपर्क से लिङ्गस्थल की अनेकता ३६
भक्तिवैचित्र्य से अङ्गस्थल की अनेकता ३६
स्वतन्त्र (होने के कारण) शिवका उपास्यत्व ३६
अस्वतन्त्र (होने के कारण) जीव का उपासकत्व ३६
गुरु तथा शिष्य में शिव और आत्मा में एकता (ऐक्य) ३७
अज्ञाननाशक तथा मुक्तिदायक उपदेश के लिये शिष्य का गुरु के समीप जाना ३८
आत्मस्वरूप की जिज्ञासा के लिये शिष्य का प्रश्न ३९
गुरु से उपदिष्ट लिङ्गाङ्गसामरस्य का स्वरूप ३९
दीक्षा का लक्षण, उसके भेद एवं उनका लक्षण ४२
वेधा आदि तीन दीक्षाओं से तीन लिङ्गों का संयोग ४५
लिङ्गत्रय की उपासनाविधि ४६

पारम्परिक उपासना से परमपद (मुक्ति) की प्राप्ति ४७
शिव, जीव तथा भक्ति का क्षेत्र, बीज तथा बीजत्व निरूपण ४७
साधक के भक्त आदि षट्स्थल प्राप्ति के क्रम का उपदेश ४८
लिङ्गस्थल एवं अङ्गस्थल के नाम ५०

षष्ठ अधिकरण

ज्ञानेन्द्रिय आदि में महालिङ्ग आदि षट्स्थलों का अस्तित्व ५२
आकाश और श्रोत्र के समान ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियादि में अभेद ५३
ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय एवं उनके विषय और अधिदेवता ५४
सभी इन्द्रियों की लिङ्गमुख्यता ५६
भक्त आदि षडङ्गस्थलों से चित्त आदि की उत्पत्ति एवं उनका लक्षण ५७
भक्त आदि स्थलों के उपास्य लिङ्गत्व का विवरण ५८
पञ्चाक्षरी विद्या का निरूपण ५९
शिवपञ्चाक्षरी मन्त्र की लिङ्गाङ्गैक्यपरकता तथा शिवजीवैक्यपरकता ६०
आधार आदि षट्चक्रों में षडक्षरी मन्त्र की स्थिति ६०
षडक्षरी मन्त्र की आचार आदि षड्लिंगरूपता ६१
पञ्चाक्षरी मन्त्र के शरीर में रक्त आदि धातुरूप से रहने की स्थिति ६१

सप्तम अधिकरण

दो प्रकार का शिवलिंगार्पण ६३
क्रियार्पण ६४
तीन द्रव्यों की समर्पण योग्यता ६४
त्रिविध प्रसाद का निरूपण ६७
ज्ञानार्पण का निरूपण ६८
अङ्ग आदि आठ स्थलों में षट्स्थल के अस्तित्व का प्रतिपादन ७४
गायत्री मन्त्र की लिङ्गैक्यपरकता का प्रतिपादन ७४
पदार्थ, प्रसाद तथा समर्पण की शिवजीवैक्यपरकता ७५
इस प्रकार जान कर कर्म करने वाले का कर्मबन्ध नहीं ७५
इस स्थिति का दृष्टान्त के साथ प्रतिपादन ७५

अष्टम अधिकरण

क्रियाविश्रान्ति की सम्यग्ज्ञानता	७८
बन्ध-मोक्ष का अभाव ही भक्ति एवं उसकी त्रिगुणातीतता	७९
भक्तियोग-रहस्य का निरूपण	८०
कर्म, ज्ञान और भक्ति के लक्षण	८१
अद्वैत भक्ति से शिवप्रसाद की प्राप्ति	८५
शिवप्रसाद को प्राप्त भक्त का जगत् को स्वात्मरूप से अनुभव करना	८५
अद्वैत भक्ति से युक्त शिवयोगी को कर्मफल का भोक्तृत्व नहीं	८७
परा भक्ति का स्वरूप	९१
शिवैक्य को प्राप्त भक्तों का स्वरूप निरूपण	९१
श्लोकार्धानुक्रमणी	९७

श्रीमायिदेवकृतम्

अनुभवसूत्रम्

प्रथमाधिकरणे पारम्पर्यक्रमः

जयति षडध्वविशुद्धिर्जयति श्रीमत्षडक्षरी विद्या ।
जयति षडङ्गसुभक्तिर्जयति षट्स्थलब्रह्म ।।१।।

वीरशैवागमसिद्धान्त में षडध्वशुद्धि[1], षडक्षर विद्या[2], षडंग भक्ति[3] और षट्स्थलस्वरूपी ब्रह्म[4], ये चार प्रमुख जानने योग्य पदार्थ हैं।।१।।

अवाच्यात्मस्वरूपाय शिवभावप्रदायिने ।
नमः सद्गुरुनाथाय षट्स्थलब्रह्ममूर्तये ।।२।।

स्वरूप जिनका अनिर्वचनीय है, जो भक्त को शिवस्वरूप अर्थात् मुक्ति देते हैं, जो षट्स्थलब्रह्मस्वरूप हैं, ऐसे सद्गुरुनाथ के लिए नमस्कार है।।२।।

नमः शिवाय स्वयमात्तनाम्ने
स्वभावसंसिद्धमहामहिम्ने ।
स्वलीनषट्त्रिंशदखण्डधाम्ने
स्वमायया कल्पितभूतभूम्ने ।।३।।

जिन्होंने स्वतः शिव नाम धारण किया है, जिनकी महिमा स्वतः अर्थात् स्वभाव-सिद्ध है, ३६ छत्तीस तत्त्वों का लयस्थान होने से जिनका तेज अखण्ड है और जिन्होंने अपनी मायाशक्ति से अनेकविध प्राणी उत्पन्न किये हैं, ऐसे सर्वोत्तम शिव के लिए नमस्कार है।।३।।

---

१. वर्णाध्व, पदाध्व, भुवनाध्व, मंत्राध्व, कलाध्व, तत्त्वाध्व ।
२. ॐ नमः शिवाय । यह षडक्षरी विद्या कहलाती है।
३. समरसभक्ति, आनन्दभक्ति, अनुभवभक्ति, अवधानभक्ति, निष्ठाभक्ति, सद्भावभक्ति।
४. भक्तस्थल, महेशस्थल, प्रसादिस्थल, प्राणलिंगिस्थल, शरणस्थल, ऐक्यस्थल। एतत्स्वरूपी ब्रह्म को 'षट्स्थलब्रह्म' कहा जाता है ।

नमः शिवायै शिववल्लभायै
शिवानुभूतिप्रतिभाकलायै ।
शिवप्रसादामलविग्रहायै
शिवप्रदायै भवतादुमायै ।।४।।

परात्बा पार्वती शिव-प्रिया हैं और शिव के अनुभवात्मक ज्ञान की कला हैं, शिवप्रसाद से जिन्हें निर्दोष शरीर प्राप्त हुआ है, उन लोककल्याणकारक **उमा देवी** को मेरा नमस्कार हो।।४।।

यस्या मात्रात्रयं नाम व्यत्यस्तप्रणवात्मकम् ।
बभौ ह्रस्वद्वयं दीर्घं द्विमात्रत्वादुमैव सा ।।५।।

अकार, उकार व मकार की युति से निष्पन्न 'ॐकार' त्रिमात्रक है और उकार, मकार व अकार इन वर्णों की युति से निष्पादित 'उमा' यह नाम पूर्वोक्त ॐकारगत तीन मात्राओं का विपर्यास एवं ह्रस्वद्वय के दीर्घत्व से हुआ है।।५।।

तयोमया सार्धमुपासितत्वा-
च्छिवः सदानन्दचिदात्मसंज्ञः ।
प्रशस्यते सोम इति प्रतीत्या
तमैपुराधीश्वरमानतोऽस्मि ।।६।।

भक्तजन सत्-चित्-आनन्दस्वरूपी शिव की उमासहित उपासना करते हैं, इस हेतु 'शिव' को **सोम** कहा जाता है, उन ऐ पुराधीश सोम को मेरा नमस्कार है।।६।।

एकाक्षराभिधेयोऽभूदैकारेणेश्वरः स्वयम् ।
यत्पुरं वपुरैश्वर्यं परं धाम तदैपुरम् ।।७।।

ऐपुरक्षेत्र की व्युत्पत्ति 'ऐ — यह ईश्वर वाचक है और जो नगर ईश्वरसम्बन्धी शरीर है, वह **ऐपुर**' है। अत एव यह ऐपुर परमक्षेत्र है।।७।।

मलप्रहारिणी नाम गङ्गा त्रिमलनाशिनी ।
त्रिदीक्षापथगा तीर्थं तत्तीरं क्षेत्रमैपुरी ।।८।।

आणव, मायीय व कार्मिक इन तीन मलों को नाश करनेवाली मलप्रहारिणी नामक गंगा है, जो दीक्षारूप तीन मार्गों से प्रवाहित होती है। उस गंगा के तट पर पूर्वोक्त परमक्षेत्र **ऐपुर** है।।८।।

तामैपुरीमहं वन्दे भवपाशनिकृन्तनीम् ।
यस्यां संनिहितः प्रीत्या सोमः सोमार्धशेखरः ।।९।।

जिस ऐपुरी में साक्षात् परमेश्वर सोमनाथ मस्तक पर अर्धचन्द्र धारण करके प्रीति से वास करते हैं, संसारपाश का छेदन करनेवाली उस ऐपुरी को मेरा नमस्कार है।।९।।

विततविविधलोकव्यापिना स्वेन भासा
रविशशिशिखिमुख्यान् भासयन् ज्योतिराख्यान् ।
वसति विमलविद्याजन्मवासे निवासे
जयति स खलु योऽसावैपुरीसोमनाथः ।।१०।।

अनेकविध प्रसिद्ध लोकों को अपने तेज से व्याप्त करनेवाले सोमनाथ सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि ज्योतियों को भी प्रकाशित करते हैं और जो विमलविद्या के उत्पत्तिस्थान ऐपुरक्षेत्र में निवास करते हैं, वह ऐपुरस्थ सोमनाथ सर्वोत्कृष्ट हैं।।१०।।

तस्य प्रसादेन तपोबलेन
ज्ञानक्रियाचारसमन्वयेन ।
विष्णोः स्वयं देशिक एव जातः
साक्षाच्छिवात्मादिगुरूपमन्युः ।।११।।

सोमार्धशेखर सोमनाथ के कृपाप्रसाद से एवं स्वयं के तपोबल से प्रत्यक्ष शिवस्वरूप आदिगुरु उपमन्यु अपने ज्ञान, क्रिया और आचार के समन्वय से साक्षात् विष्णु के गुरु हुए।।११।।

उपमन्युशिवाचार्यनामतः श्रीमदैपुरे ।
जातः प्राथमिकः श्रीमानुपमन्युर्मुनीश्वरः ।।१२।।

वह मुनिश्रेष्ठ श्रीमान् उपमन्यु, ऐपुर में उपमन्यु शिवाचार्य के नाम से उत्पन्न हुए।।१२।।

यः स्वेच्छया ह्यैपुरसोमनाथ-
पादारविन्दप्रवणैकचेताः ।
आविर्बभूवादिगुरूपमन्योः
श्रीभीमनाथप्रभुरार्यवेद्यः ।।१३।।

स्वभाव से ही सोमनाथ के चरणारविन्दों में अटूट भक्ति करनेवाले श्रेष्ठमान्य **श्रीभीमनाथप्रभु,** उपमन्यु शिवाचार्य से आविर्भूत हुए।।१३।।

तस्य प्रभोरुदभवत्करुणाबलेन
विद्याविलासविभवाकृतिपात्रगात्रः ।
आचार्यलक्षणपरिस्फुटसच्चरित्रः
श्रीमन्महागुरुकलेश्वरनामधेयः ।।१४।।

उन भीमनाथप्रभु को शिवकृपाप्रसाद से श्रीमन्महागुरु **कलेश्वर** नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो शरीर से विद्या, विलास एवं वैभव के योग्य था और जिसके आचरण से आचार्यत्व के लक्षण स्पष्ट परिलक्षित हो रहे थे।।१४।।

आर्चायस्य कलेश्वराह्वयमहादेवस्य सूनुर्महान्
श्रौतस्मार्तसमागमप्रथितनिष्ठैकप्रतिष्ठापरः ।
शैवाद्वैतशिरोव्रताङ्गसमयाचारक्रियादेशिकः
साक्षादैपुरमन्दिरः परगुरुः श्रीबोप्पनाथः प्रभुः ।।१५।।

महागुरु कलेश्वर से **श्रीबोप्पनाथ** गुरु का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने श्रौत एवं स्मार्त धर्मों में स्वतः की निष्ठा से लोक में उसका प्रचार किया, शैवाद्वैतरहस्य, शैवव्रत, शैवसमय (शैवसिद्धान्त), शैवाचार और शैवक्रिया का प्रथम उपदेश किया। इनका निवास भी ऐपुर में ही था।।१५।।

श्रीमद्देशिकबोप्पनाथपरमेशानात्मजः सद्गुरुः
श्रीसोमेशवरलिङ्गभक्तियजनध्यानैकनिष्ठापरः ।
श्रीवीरव्रतसत्यधर्मनियमश्रद्धादिरूढक्रियः
श्रीशैवोत्तरतत्त्वयोगरसिकः श्रीनाकराजप्रभुः ।।१६।।

साक्षात् शिवस्वरूपी बोप्पनाथ गुरु को **नाकराज** नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ, जो श्रीसोमेश्वरसम्बन्धी भक्ति, पूजा, ध्यान आदि पर स्वतः निष्ठा के साथ वीरशैवव्रतों, सत्यधर्म, नियमादिकों का विश्वासपुरःसर आचरण करते हुए, शैवमतान्तर्गत उत्तर आगमों में उपदिष्ट तत्त्वानुसार योगाचरण करने लगा।।१६।।

श्रीनाकराजपरमेश्वरदेशिकेन्द्र-
कारुण्यबन्धुरकटाक्षनिरीक्षणेन ।

जातः शिवैकगतमानसचारुचेष्टः
श्रीसङ्गमेश्वरमहाप्रभुरार्यवर्यः ।।१७।।

परमगुरु नाकराज की करुणा कटाक्ष दृष्टि से, कायिक, वाचिक एवं मानसिक-रूपेण शिव की उपासना करनेवाले, सद्गुरुनाथ आर्यश्रेष्ठ **संगमेश्वर** प्रभु नामक पुत्र का आविर्भाव हुआ।।१७।।

एतस्य सङ्गमेशार्यवर्यस्यायं तनूभवः ।
नाम्ना कल्याणदः श्रीमान् मायिदेव इति स्थितः ।।१८।।

इन आर्यश्रेष्ठ संगमेश्वर गुरु से **कल्याणद** नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो आगे चलकर इस लोक में **'मायिदेव'** नाम से प्रसिद्ध हुए।।१८।।

माहेशानां स्वभक्तानां कल्याणपदकाङ्क्षिणाम् ।
ददाति नित्यकल्याणं तेन कल्याणदः श्रुतः ।।१९।।

कल्याणद गुरु के दो अभिधानों के रहस्य को बताते हैं — वे नित्य स्वभक्त मुमुक्षु माहेश्वर भक्तों का कल्याण करते थे, इस हेतु उनका **कल्याणद** नाम व्यवहृत हुआ।।१९।।

मायया कथ्यते मायी देवो विष्णुरिति स्मृतः ।
मायिनो यः परो देवो मायिदेवः स उच्यते ।।२०।।

द्वितीय अभिधान का कारण बतलाते हैं — विष्णु मायास्वरूपी हैं, इस हेतु उन्हें 'मायी' कहा जाता है, परन्तु कल्याणद, मायी अर्थात् विष्णु से भी श्रेष्ठ देव होने के कारण **मायिदेव** इस नाम से विश्रुत हुए।।२०।।

तस्मात् कल्याणदः श्रीमान् मायिदेव शिवः स्वयम् ।
तस्यास्य परमेशस्य नामाङ्कोऽयं शिवात्मकः ।।२१।।

उस कारण से मायिदेव साक्षात् शिवस्वरूप ही थे, अतः उन कल्याणद महाप्रभु का 'मायिदेव' अभिधान भी शिवात्मक ही है।।२१।।

सत्यशुद्धशिवाद्वैतविद्यातन्त्रस्वतन्त्रधीः ।
कल्याणदाह्वयः श्रीमान् मायिदेवमहाप्रभुः ।।२२।।

उन कल्याणद नामक श्रीमान् मायिदेव महाप्रभु की बुद्धि, सत्य-शुद्धात्मक **'शिव'** से जीव का अभेद प्रतिपादित करने वाले वीरशैव सिद्धान्त में अकुण्ठित थी।।२२।।

जयति परमशैवः स्वात्मविद्याधिदैवः
कुमतमतविभेदी षट्स्थलब्रह्मवादी ।
गुरुपदनिजभक्तः केवलोऽनादिमुक्तः
सुचरितशिववर्त्मा मायिदेवो महात्मा ।।२३।।

वीरशैवधर्म का अनुपालन करनेवाले महाप्रभु मायिदेव परमशैव होते हुए भी आत्मविद्या निपुण थे। उन्होंने परमत अर्थात् अन्य कुत्सित मतों का खण्डन करके षट्स्थलस्वरूपी ब्रह्म का उपदेश किया और गुरुचरणों में निजभक्ति अर्थात् दृढभाव रखते हुए संसार से मुक्ति को प्राप्त किया ।।२३।।

अयं शिवाद्वैतपरो महात्मा
परम्परापावनसम्प्रदायः ।
शिवेन देव्यै कथितं रहस्यं
ततान यत्षट्स्थलनिर्णयं तत् ।।२४।।

परम्परा से शिष्यसम्प्रदाय को पवित्र करनेवाले शिवाद्वैतविद्या में निपुण महात्मा मायिदेव ने शिव के द्वारा पार्वती को कथित रहस्य को ही **षट्स्थल** इस नाम से लोक में प्रसिद्ध किया ।।२४।।

कामिकाद्या वातुलान्ताः शिवेनोक्ताः शिवागमाः ।
तेषु वातुलसंज्ञोऽयं सर्वोत्कृष्टो महागमः ।।२५।।

शिव के द्वारा प्रतिपादित **कामिक** से लेकर **वातुलान्त** २८ आगम हैं, उन आगमों में वातुलागम सर्वोत्कृष्ट है।।२५।।

वातुलाख्ये महातन्त्रे पूर्वोत्तरविभेदतः ।
भागद्वयं समाख्यातं तस्मिन्नुत्तरनामनि ।।२६।।

वातुल नामक आगम के **'पूर्वभाग'** एवं **'उत्तरभाग'** ये दो विभाग कहे गये हैं। उसके उत्तरभाग में — ।।२६।।

तन्त्रोत्तरप्रदीपाख्यं शिवसिद्धान्ततन्त्रकम् ।
अस्ति तत्राह देवेशो देव्यै षट्स्थलनिर्णयम् ।।२७।।

'तन्त्रोत्तरप्रदीप' नाम का शिवसिद्धान्त प्रतिपादक शास्त्र है। उस शास्त्र में महादेव ने पार्वती को षट्स्थल निर्णय का कथन किया है।।२७।।

श्रुतिस्मृतीतिहासैश्च शिवधर्मादिशास्त्रकैः ।
कथ्यते शिवसिद्धान्ततन्त्रं षट्स्थलनिर्णयम् ।।२८।।

शिवागमैः शिवाद्वैतरहस्यैः पारमार्थिकैः ।
कथ्यते शिवसिद्धान्ततन्त्रं षट्स्थलनिर्णयम् ।।२९।।

सर्वैरुपनिषद्वाक्यैः पुराणैरुत्तरार्धकैः ।
कथ्यते शिवसिद्धान्ततन्त्रं षट्स्थलनिर्णयम् ।।३०।।

गीतासारैः समस्तैश्च पुरातनमहामतैः ।
कथ्यते शिवसिद्धान्ततन्त्रं षट्स्थलनिर्णयम् ।।३१।।

गुरूक्त्या स्वानुभूत्या च तर्कतश्च प्रमाणतः ।
कथ्यते शिवसिद्धान्ततन्त्रं षट्स्थलनिर्णयम् ।।३२।।

एतेषामेव सर्वार्थसारमादाय सादरम् ।
शिवोक्तं शिवसिद्धान्ततन्त्रं वक्ष्ये समासतः ।।३३।।

श्रुति, स्मृति, इतिहास, शिवागम इत्यादि शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित, शिवाद्वैतरहस्य प्रतिपादक शास्त्रों एवं पारमार्थिक शिवागमों में उपवर्णित, समस्त उपनिषदों एवं उत्तरार्ध पुराणों में कथित एवं गीतासार व यच्चयावत् प्राचीन धर्ममतों में प्रतिपादित षट्स्थलात्मक शिवसिद्धान्तशास्त्र का, उपर्युक्त संदर्भों का सार लेकर, गुरुपरम्पराप्राप्त ज्ञान से, स्वानुभूति से एवं तर्कादिप्रमाणों से कथन किया जाता है।।२८-३३।।

यैश्च कैश्चिदपि श्लोकैस्तत्प्रारब्धं समाप्यते ।
तद्विवक्षा मया कार्या किमन्यैर्बहुविस्तरैः ।।३४।।

कतिपय श्लोकों में ही प्रारब्ध ग्रन्थ को पूर्ण करने की इच्छा है, क्योंकि अनावश्यक विस्तर का क्या प्रयोजन है? ।।३४।।

तत्र तावदिदं पूर्वं पारम्पर्यक्रमाभिधम् ।
स्थलनिर्देशसंज्ञं तु द्वितीयमत उच्यते ।।३५।।

प्रस्तुत अनुभवसूत्र नामक ग्रन्थ का **'पारम्पर्य क्रम'** नामक यह प्रथम अधिकरण है और **'स्थलनिर्देश'** द्वितीय अधिकरण है।।३५।।

तृतीयमुच्यते साक्षाल्लिङ्गस्थलनिरूपणम् ।
चतुर्थं कीर्त्यते तद्वदङ्गस्थलनिरूपणम् ।।३६।।

तृतीय अधिकरण **'लिंगस्थलनिरूपण'** है और चतुर्थ अधिकरण का नाम **'अंगस्थलनिरूपण'** है।।३६।।

पञ्चमं चैव लिङ्गाङ्गसंयोगविधिसंज्ञकम् ।
सर्वाङ्गलिङ्गसाहित्यं षष्ठाधिकरणं भवेत् ।।३७।।

'लिंगसंयोगविधि' नामक पंचम अधिकरण है और **षष्ठाधिकरण** का नाम **'सर्वांगलिंगसाहित्य'** है।।३७।।

श्रीलिङ्गार्पणसद्भावसंज्ञं सप्तमिष्यते ।
क्रियाविश्रान्तिसंज्ञाधिकरणं चाष्टमं भवेत् ।।३८।।

'लिंगार्पणसद्भाव'संज्ञक सातवाँ अधिकरण है और आठवाँ अधिकरण **'क्रियाविश्रान्ति'**संज्ञक है।।३८।।

एवमष्टाधिकरणं शिवसिद्धान्ततन्त्रकम् ।
एतद्यो वेद सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरति प्रभुः ।।
शिवसिद्धान्तकं तन्त्रं शिवाद्वैतं शिवं पदम् ।।३९।।

इति श्रीवातुलोत्तरतन्त्रे शिवानुभवसूत्रे षट्स्थलनिर्णये
पारम्पर्यक्रमोनाम प्रथमाधिकरणं सम्पूर्णम् ।।

अष्टमाधिकरण को अर्थात् **'क्रियाविश्रान्ताधिकरण'** को जो सम्यक् रूपेण जानता है, वह समर्थ मनुष्य अज्ञान से मुक्त हो जाता है। यह शिवसिद्धान्तशास्त्र शिवाद्वैतप्रतिपादक एवं शुभपददायक है।।३९।।

इस प्रकार वातुलागम के उत्तरतन्त्र के शिवानुभवसूत्रोक्त षट्स्थलनिर्णयान्तर्गत पारम्पर्यक्रम नाम का प्रथम अधिकरण सम्पूर्ण हुआ ।।१।।

इत्यनुभवसूत्रे वैदिकतिलकमीमांसाभूषणपण्डित-
गजाननसदाशिवमुसलगाँवकरशास्त्रिणा कृते
किरणाख्यानुवादे पारम्पर्यक्रमोनाम
प्रथमाधिकरणं समाप्तिमगमत्।।

द्वितीयाधिकरणे स्थलनिर्देशः

तदिदानीं प्रवक्ष्यामिं स्थलनिर्देशमादितः ।
यदुक्तं देवदेवेन रहस्यार्थं समासतः ।।१।।

देवाधिदेव महादेव के द्वारा पार्वती को कथितं रहस्यार्थक स्थलनिर्देश को षट्स्थलनिरूपण करने के पूर्व कहता हूँ।।१।।

एकमेव परं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
शिवतत्त्वं शिवाचार्याः स्थलमित्याहुरादरात् ।।२।।

अद्वितीय एवं सच्चिदानन्दात्मक परब्रह्म 'शिवतत्त्व' को ही शिवाचार्य भक्तिपुरस्सर **'स्थल'** नाम से व्यवहृत करते हैं।।२।।

सर्वेषां स्थानभूतत्वाल्लयभूतत्वतस्ततः ।
तत्त्वानां महदादीनां स्थलमित्यभिधीयते ।।३।।

महत्, बुद्धि, अहंकार आदि समस्त मूलतत्त्व शिवात्मक परब्रह्म से उत्पन्न होते हैं और प्रलय अवस्था में उसी शिवतत्त्व में लीन हो जाते हैं। इस हेतु अद्वितीय सच्चिदानन्दात्मक परब्रह्म 'शिवतत्त्व' को **स्थल** कहते हैं।।३।।

यत्रादौ स्थीयते विश्वं प्राकृतं पौरुषं तथा ।
लीयते पुनरन्ते च स्थलं तत्प्रोच्यते ततः ।।४।।

ग्रन्थकार 'शिव' को स्थल कहने में पुनः युक्ति देते हैं — प्रकृति एवं पुरुष के संयोग से उत्पन्न स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् स्थिति-अवस्था में उसी शिवतत्त्व में रहता है और लय प्रक्रिया में पुनः उसीमें लय को प्राप्त होता है। तस्मात् शिवतत्त्व को **स्थल** कहते हैं।।४।।

स्थकारः स्थानवाची स्याल्लकारो लयवाचकः ।
तयोः कारणभूतं यत् तदेव स्थलमुच्यते ।।५।।

ग्रन्थकार अभीष्टार्थ को प्रकट करने हेतु 'स्थल' शब्द का निर्वचन कर रहे हैं — 'स्थ' अर्थात् **स्थान** और 'ल' का तात्पर्य **लय** है, इस हेतु स्थिति और लय के कारणभूत तत्त्व को 'स्थल' कहा जाता है।।५।।

'शिवतत्त्व' को स्थल कहने में पुनः उपसंहारात्मक युक्ति दिखा रहे हैं —

अधिष्ठानं समस्तस्य स्थावरस्य चरस्य च ।
जगतो यद् भवेत्तत्त्वं तद्धि वै स्थलमुच्यते ।।६।।

चराचरात्मक समस्त जगत् का अर्थात् सृष्टि-स्थिति और लय का, जो आधारभूत परमतत्त्व होता है, उसे ही 'स्थल' इस अभिधान से अभिहित किया जाता है। इस हेतु स्थावर-जङ्गमात्मक समस्त जगत् के आधारभूत शिवतत्त्व को स्थल कहा जाता है।।६।।

शिष्टाचारप्रामाण्य को स्वीकार कर ग्रन्थकार उपर्युक्त विवरण को संग्रहार्थक रूप में प्रस्तुत करते हैं —

आधारं सर्वशक्तीनां ज्योतिषामखिलात्मनाम् ।
यत् तत्त्वं भवति प्राज्ञैः स्थलं तत्परिगीयते ।।७।।

समस्त शक्तियों के, समस्त ज्योतियों के, अर्थात् समस्त नक्षत्रादिकों के और सम्पूर्ण जीवों के आधारभूत परापरात्मक शिवतत्त्व को विद्वान् अर्थात् शिष्टजन 'स्थल' कहते हैं।।७।।

आलयः सर्वभूतानां लोकानां सर्वसम्पदाम् ।
यद् भवेत्परमं ब्रह्म स्थलं तत्प्राहुरक्षरम् ।।८।।

जो परब्रह्मात्मक शिवतत्त्व, समस्त प्राणियों के, निखिल सम्पदाओं के और यच्चंयावत् समस्त लोकों के आधारस्थान है, उस शिवतत्त्व को शिवाचार्य **'अक्षय-स्थल'** कहते हैं।।८।।

परनिर्वाणनिष्ठानां यद् भवेत् परमं पदम् ।
तदाहुः स्थलमद्वैतं शिवज्ञानैकतत्पराः ।।९।।

उत्तम मोक्ष (मुक्ति) के अभिलाषी साधकों का जो परमपद अर्थात् उत्तमस्थान है, उस अद्वैत शिवतत्त्व को ही शिवज्ञान में तत्पर विद्वान् **स्थल** कहते हैं।।९।।

स्वशक्तिक्षोभमात्रेण स्थलं तद् द्विविधं भवेत् ।
एकं लिङ्गस्थलं प्रोक्तमन्यदङ्गस्थलं स्मृतम् ।।१०।।

परब्रह्मात्मक शिवतत्त्व से संयुक्त मायाशक्ति के क्षोभ से अर्थात् सत्त्व-रज-तम स्वरूप गुणों के चलन से पूर्वोक्त शिवात्मक स्थल दो प्रकार का हो जाता है, जिनमें एक को **'लिंगस्थल'** और द्वितीय को **'अंगस्थल'** कहा जाता है।।१०।।

लिङ्गाङ्गोपाधिभेदेन द्विधा भिन्नं परस्परम् ।
महान् घटप्रभेदेन यथाऽऽकाशः प्रतीयते ।।११।।

प्रतीयते तथा चैव स्थलं लिङ्गाङ्गभेदतः ।
स्थलं नाम परं तत्त्वं शिवरुद्रादिसंज्ञकम् ।।१२।।

जैसे विभु होने पर भी आकाश उपाधिभेद से घटाकाश, महाकाश इत्यादि प्रकार से प्रतीत होता है, तथैव शिवतत्त्वात्मक स्थल 'लिंग' एवं 'अंग' इन दो उपाधियों से लिंगस्थल एवं अंगस्थल कहा जाता है। उस परतत्त्वात्मक शिवस्थल के **शिव, रुद्र** इत्यादि संज्ञाएँ अर्थात् नाम हैं।।११-१२।।

उपास्योपासकत्वेन स्वयमेव द्विधा भवेत् ।
लिङ्गस्थलमुपास्यं स्यादङ्गस्थलमुपासकम् ।।१३।।

शिवतत्त्व स्वयं ही उपास्य और उपासक रूपेण दो प्रकार का हो जाता है, जिनमें लिंगस्थल को **उपास्य** (जिसकी उपासना की जाती है, उसे उपास्य कहते हैं) एवं अंगस्थल को **उपासक** (जो उपासना करता है, उसे उपासक कहते हैं) ये संज्ञाएँ हैं।।१३।।

उपास्यत्वं तथोपासकत्वं च परमः शिवः ।
अप्रच्युतात्मभेदेन स्थितः सन्नात्मलीलया ।।१४।।

अद्वितीय शिवतत्त्व ही उपास्य है और उपासक भी है। पूर्वोक्त उपास्य-उपासकात्मक भेद उस अविनाशी आत्मा की सहज लीला से उत्पन्न हुआ है।।१४।।

स्वशक्त्या युगपत्साक्षात्प्राप्त एवं स्वयं क्रमात् ।
नाशिवस्य शिवोपास्तिर्घटते जन्मकोटिभिः ।।१५।।

पूर्वोक्त उपास्योपासक भेद उस परम आत्मतत्त्व की स्वशक्ति से अकस्मात् क्रमशः स्वयं प्राप्त हुआ है। अशिव जीव को अनेक कोटि जन्मों में भी शिवोपासना का लाभ प्राप्त नहीं होता।।१५।।

शिवस्यैव शिवोपास्तिरिति नानाश्रुतिस्थितिः ।
चिन्मात्रं परमं साक्षात् स्थलं सत्यादिलक्षणम् ।।१६।।

'शिव जीव को ही शिवोपासना का लाभ प्राप्त होता है' एतद्विषयक अनेक श्रुतियाँ प्रमाणरूप में हैं। वह परशिवतत्त्वात्मक स्थल सत् -चित् और आनन्दात्मक लक्षणवाला है।।१६।।

लिङ्गाङ्गत्वशिवात्मत्वभेदेनैव स्वयं स्थितम् ।
शिवत्वेनात्मरूपेण यथा चिन्मात्रमुच्यते ।।१७।।

लिङ्गत्वेनाङ्गरूपेण स्थलमात्रं तथोच्यते ।
स्थलं चिन्मात्रमेव स्याल्लिङ्गं स्याच्छिव एव हि ।।१८।।

तथाङ्गं जीव एव स्यादिति शैवी परा स्थितिः ।

इस प्रकार पूर्वोक्त शिवस्थल **लिंग**, **अंग**, **शिव** और **जीव** (आत्मा) के भेद से चतुर्विध हो जाता है। जैसे चैतन्य 'शिव' और 'जीव' भेद से दो प्रकार का हो जाता है, तथैव वह परात्मक शिवस्थल लिंग और अंग भेद से दो प्रकार का हो जाता है। स्थल चित् मात्र है, लिंग साक्षात् शिव है और जीव अंगस्थल है, एतत् प्रकारक वीरशैव-सिद्धान्त की स्थिति हैं।।१७-१८।।

यथा स्थलं द्विधाभूतं तथा शक्तिर्द्विधा भवेत् ।।१९।।

शक्तिरप्रतिमा साक्षाच्छिवेन सहधर्मिणी ।
साक्षिणी सत्यसम्पूर्णा निर्विकल्या महेश्वरी ।।२०।।

जिस प्रकार 'स्थल' लिंग और अंग के भेद से दो प्रकार का होता है, उसी प्रकार शिव की अद्वितीय शक्ति भी दो प्रकार की हो जाती है। वह असीम और अप्रतिम शक्ति शिव की साक्षात् सहधर्मिणी समस्त कर्मों की साक्षिणी, सर्वव्यापिनी एवं विकल्परहित **महेश्वरी** है।।१९-२०।।

सा शक्तिर्द्विविधा भूता स्वस्वातन्त्र्यबलेन तु ।
समानधर्मिणीत्वेन विभक्ता भक्तवत्सला ।।२१।।

भक्ताभयदायिनी शक्ति, शिव की समानधर्मिणी होने से एवं स्व-स्वतन्त्रता से, दो रूपों में विभक्त हुई है।।२१।।

लिङ्गस्थलाश्रया काचित् काचिदङ्गस्थलाश्रया ।
लिङ्गस्थलाश्रया शक्तिःकलारूपा प्रकीर्तिता ।।२२।।

द्विधा विभक्त उक्त शक्ति, एक **'लिंगस्थलाश्रित'** और द्वितीय **'अंगस्थलाश्रित'**, रहती है। लिंगस्थलाश्रित शक्ति को **'कला'** कहते हैं।।२२।।

अङ्गस्थलाश्रया शक्तिर्भक्तिरूपा भवापहा ।
यथा महानलज्वाला विभक्ता दीपिकाकृतिः ।।२३।।

तथा महेश्वरी शक्तिर्विभक्ता भक्तिरूपिणी ।
ज्वाला तमस्विनी यस्माद् दीपिका सुप्रकाशिनी ।।२४।।

तस्मात् सवासना शक्तिर्भक्तिर्निर्वासना मता ।
भक्तिर्महत्तरा शुद्धा सुसूक्ष्मा शोभना परा ।।२५।।

द्वितीय 'अंगस्थलाश्रित' शक्ति को संसारार्णवतरिणी **'भक्ति'** कहते हैं। जिस प्रकार अग्नि-ज्वाला एक होने पर भी दीपक आदि से भिन्न प्रतीत होती है, उसी प्रकार ईश्वर की प्रधान शक्ति एक होने पर भी 'भक्ति' रूप से भिन्न प्रतीत होती है। धूम के संपर्क से जैसे अग्नि किंचित् मन्दप्रभ और दीपक अमल प्रकाशक होता है, तथैव 'शक्ति' वासनायुक्त और 'भक्ति' वासनारहित होती है। इस हेतु 'भक्ति' शक्ति से श्रेष्ठ, शुद्ध, मनोहर, उत्तम और सूक्ष्म है।।२३-२५।।

सच्चिदानन्दरूपा स्याद् भुक्तिमुक्तिफलप्रदा ।
शक्तिरेव स्मृता भक्तिर्भक्तिरेव हि सा सदा ।।२६।।

सच्चिदानन्दस्वरूपा भक्ति सुखभोग और मुक्तिदात्री है। शक्ति ही नित्यभक्ति है और भक्ति ही शक्ति है।।२६।।

शक्तिभक्त्योर्न भेदोऽस्ति परमार्थनिरूपणे ।
शक्तिः प्रवृत्तिराख्याता निवृत्तिर्भक्तिरीरिता ।।२७।।

परमार्थतः भक्ति और शक्ति में कोई भेद ही नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि शक्ति अर्थात् **'प्रवृत्ति'** है और भक्ति अर्थात् **'निवृत्ति'** है।।२७।।

शक्त्या प्रपञ्चसृष्टिः स्याद् भक्त्या तद्विलयो मतः ।
शक्तिवैचित्र्यतो रूपं नीरूपमपि याति हि ।।२८।।

'शक्ति' तत्त्व से स्थावर-जंगमात्मक जगत् की सृष्टि होती है और भक्ति से जगत् रूप प्रपंच का लय होता है। शक्तिवैचित्र्य से रूपरहित वस्तु भी सरूप हो जाती है।।२८।।

भक्तिवैचित्र्यतो रूपमपि नीरूपतामियात् ।
प्रपञ्चवृद्ध्यपेक्षा हि शक्तेः स्वाभाविको गुणः ।।२९।।

भक्तिवैचित्र्य से साकारता को प्राप्त वस्तुएँ भी निराकार हो जाती हैं, क्योंकि जगत् सर्ग की सतत इच्छा शक्ति का नैसर्गिक गुण है।।२९।।

प्रपञ्चसञ्चयापेक्षा भक्तेः स्वाभाविको गुणः ।
अधोमुखी भवेच्छक्तिर्भक्तिरूर्ध्वमुखी भवेत् ।।३०।।

शक्ति के द्वारा उत्पन्न स्थावर-जंगमात्मक प्रपंच का लय करना भक्ति का स्वाभाविक गुण है। 'शक्ति' सर्गकर्त्री होने से **'अधोमुखी'** और लयकर्त्री होने से 'भक्ति' **'ऊर्ध्वमुखी'** है।।३०।।

समाया शक्तिराख्याता निर्माया भक्तिरीरिता ।
अपि तर्कप्रमाणाभ्यां शक्तेर्भक्तिर्गुणाधिका ।।३१।।

'शक्ति' मायावच्छिन्ना है अर्थात् मायामयी है और 'भक्ति' मायानिरवच्छिन्ना है अर्थात् मायाविरहित है। तर्क-प्रमाणादि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'शक्ति' की अपेक्षा 'भक्ति' गुणों में सर्वश्रेष्ठ है ।।३१।।

उपास्यत्वं भवेच्छक्त्या भक्त्योपासकता भवेत् ।
तस्माल्लिङ्गस्थले शक्तिर्भक्तिरङ्गस्थले स्थिता ।।३२।।

लिंगस्थल में 'उपास्यत्व' रहने से तद्गता 'शक्ति' **'उपास्यत्व'** और 'अंगस्थल' में उपासकत्व रहने से तद्गता भक्ति **'उपासकत्व'** रूप से अवस्थित है।।३२।।

लिङ्गस्थलं शिवः साक्षाज्जीवात्माऽङ्गस्थलं भवेत् ।
लिङ्गाङ्गस्थलयोरैक्यं शिवजीवैक्यमेव हि ।।३३।।

साक्षात् **शिव** ही 'लिंगस्थल' है और जीवात्मा 'अंगस्थल' है। लिंग और अंगस्थलों का ऐक्य ही शिव और जीव का ऐक्य है।।३३।।

एतद्यो वेत्ति सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरति प्रभुः ।
शिवसिद्धान्तकं तन्त्रं शिवाद्वैतं शिवं पदम् ।।३४।।

इति श्रीवातुलोत्तरतन्त्रे शिवानुभवसूत्रे षट्स्थलनिर्णये स्थलनिर्देशोनाम द्वितीयाधिकरणं सम्पूर्णम् ।।

एतत्प्रकारक शिवाद्वैत प्रतिपादक एवं मोक्ष देनेवाले शिवसिद्धान्तशास्त्र का जो ज्ञाता होता है, वह साधक अविद्या-ग्रन्थि अर्थात् अज्ञान से मुक्त हो जाता है।।३४।।

इत्यनुभवसूत्रे वैदिकतिलकमीमांसाभूषणपण्डित-गजाननसदाशिवमुसलगाँवकरशास्त्रिणा कृते किरणाख्यानुवादे षट्स्थलनिर्णयो नाम द्वितीयाधिकरणं समाप्तिमगमत्।।

❖

तृतीयाधिकरणे लिङ्गस्थलनिरूपणम्

इदानीमथ वक्ष्यामि लिङ्गस्थलनिरूपणम् ।
संक्षेपाद् विस्तरेणापि यथोक्तं शम्भुना पुरा ।।१।।

प्रस्तुत तृतीय अधिकरण में पुराकल्प में ईश्वर द्वारा पार्वती को सविस्तर निरूपित लिंगस्थल का निरूपण मैं (मायीदेव) करूँगा।।१।।

शिव एव स्वयं लिङ्गमिति लिङ्गस्य वैभवम् ।
नान्यच्चिह्नादिकं लिङ्गं तत्सर्वं कृतकं च यत् ।।२।।

व्युत्पत्ति-सामर्थ्य से लिंग शब्द केवल 'शिव' वाचक ही है। अन्यत्र दर्शन-साहित्यशास्त्रादिकों में व्यवहृत 'लिंग' शब्द चिह्न अथवा संकेत का वाचक होते हुए भी अव्युत्पन्न और कृतक है, अर्थात् निर्मित है।।२।।

लीयते गम्यते यत्र येन सर्वं चराचरम् ।
तदेतल्लिङ्गमित्युक्तं लिङ्गतत्त्वपरायणैः ।।३।।

समस्त स्थावर-जंगमात्मक सृष्टि का लय एवं उत्पत्ति जिससे होती है, उस परमतत्त्व शिव को ही तत्त्वविद् 'लिंग' कहते हैं।।३।।

परमतत्त्व शिव को 'लिंग' कहने में प्रकारान्तर से युक्ति देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं —

लयगत्यर्थयोर्हेतुभूतत्वात् सर्वदेहिनाम् ।
लिङ्गमित्युच्यते साक्षाच्छिवः सकलनिष्कलः ।।४।।

समस्त प्राणियों की लयावस्था और गत्यवस्था में हेतुभूत परमतत्त्व 'शिव' ही है। एतदर्थ परमतत्त्व शिव को ही लिंग कहते हैं। वह लिंगात्मक 'शिव' कला से उपहित एवं कला से अनुपहित, दोनों प्रकार का है।।४।।

अधुना ग्रन्थकार **लिंगस्थल** के त्रिविध भेद का कथन कर रहे हैं —

लिङ्गस्थलं त्रिधा ज्ञेयं तद्भेदो वर्ण्यते क्रमात् ।
प्रथमं भावलिङ्गं स्याद् द्वितीयं प्राणलिङ्गकम् ।।५।।
तृतीयमिष्टलिङ्गं स्यादित्येतत् त्रिविधं स्मृतम् ।

लिंगस्थल के तीन प्रकार हैं। उन तीन भेदों का कथन क्रम से किया जा रहा है। प्रथम **'भावलिंग'**, द्वितीय **'प्राणलिंग'** और तृतीय **'इष्टलिंग'**, एतत्प्रकारक 'लिंगस्थल' के तीन भेद हैं।।५।।

निष्कलं भावलिङ्गं स्याद् भावग्राह्यं परात्परम् ।।६।।
सन्मात्रं भावलिङ्गं स्यादिति निष्ठा महात्मनाम् ।
प्राणलिङ्गं मनोग्राह्यं भवेत् सकलनिष्कलम् ।।७।।
तत्प्राणेष्वन्तर्मनसो लिङ्गमाह इति श्रुतिः ।

उक्त त्रिविध लिंगस्थलों में प्रथम 'भावलिंग' कलारहित है, तथापि सर्वोत्कृष्ट एवं भावमात्र का विषय है। विद्वानों का कथन है कि वह भावलिंग 'सत्' है अर्थात् त्रिकालाबाधित है। द्वितीय 'प्राणलिंग' सकल एवं निष्कल उभयविध है। अर्थात् सावयव और निरवयव दोनों रूपों का है। वह मनोगोचर 'प्राणलिंग' 'प्राण और मन में स्थित है' इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है ।।६-७।।

सकलं दृक्कलाग्राहयमिष्टलिङ्गस्थलं महत् ।।८।।
इष्टावाप्तिकरं साक्षादनिष्टपरिहारकम् ।
इष्टिः पूजा तया नित्यमिष्टं पूजितमादरात् ।।९।।
इष्टलिङ्गमिति प्रोक्तमाचार्यैर्लिङ्गपूजकैः ।
इष्टमर्थं स्वभक्तानामनुयच्छति सर्वदा ।।१०।।
तदिष्टलिङ्गमित्याह तस्मादाथर्वणी श्रुतिः ।

इष्टलिंगस्थल कलायुक्त होते हुए चक्षुरिन्द्रिय से ग्रहण के योग्य है, अर्थात् सावयव होने से प्रत्यक्ष का विषय बनता है। इष्टलिंग भक्तों के दुःखों का परिहार करके अभीष्ट अर्थ को सम्पादित करता है। इष्टलिंग के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को स्पष्ट करते हैं, **'इष्टिः'** अर्थात् पूजा और पूजा से भक्ति-पुरस्सर अर्चनीय होने के कारण, लिंगपूजक आचार्यों ने उसे **'इष्टलिंग'** कहा है। इस विषय में भी

श्रुति प्रमाण है। अथर्ववेद का कथन है कि स्वभक्तों के अभीष्ट अर्थों का सर्वदा सम्पादन करता है, इस हेतु उसे **'इष्टलिंग'** कहा जाता है ।।८-१०।।

परब्रह्मात्मक 'शिव' के सच्चिदानन्द रूपों का सद्भाव पूर्वोक्त तीन लिंगों में दिखाते हैं —

सद्रूपं भावलिङ्गं स्याच्चिद्रूपं प्राणलिङ्गकम् ।।११।।
आनन्दरूपमाचार्यैरिष्टलिङ्गमुदाहृतम् ।

भावलिंग **'सत्'** रूप है, प्राणलिङ्ग **'चित्'** रूप और इष्टलिंग **'आनन्द'** स्वरूप है, ऐसा वीरशैव आचार्यों का (कथन) अनुशासन है।।११।।

अधुना ग्रन्थकार **'तत्त्वमसि'** महावाक्य में तीनों पदों के पूर्वोक्त लिंगत्रिक अर्थ हैं, इस विषय का निरूपण कर रहे हैं —

अस्यार्थो भावलिङ्गं स्यात् त्वमर्थः प्राणलिङ्गकम् ।।१२।।
तदर्थस्त्विष्टलिङ्गं स्यात् पदत्रयनिरूपणे ।

उपदेशात्मक 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में तीन पद हैं **तत्, त्वम्** और **असि**। उनमें 'असि' पद का अर्थ 'भावलिंग' है, 'त्वं' पद का अर्थ 'प्राणलिंग' और 'तत्' पद का अर्थ 'इष्टलिंग' है। इस प्रकार 'महावाक्य' के शोधन में पदों के पूर्वोक्त अर्थ समझने चाहिए।।१२।।

भावलिङ्गं परं तत्त्वं प्राणलिङ्गं तु सूक्ष्मकम् ।।१३।।
इष्टलिङ्गं भवेत् स्थूलमेतल्लिङ्गत्रयं स्मृतम् ।

स्वरूप के आधार पर 'भावलिंग' पर, अर्थात् **कारणरूप** है। 'प्राणलिंग' **सूक्ष्मरूप** और 'इष्टलिंग' **स्थूलतत्त्व** है ।।१३।।

स्थूलं बाह्यमिति प्रोक्तं सूक्ष्ममाभ्यन्तरं स्मृतम् ।।१४।।
सबाह्याभ्यन्तरं यत् तत्परमित्यभिधीयते ।

स्थूललिंग की स्थिति बाह्य अर्थात् बाहर होने के कारण उसे **बाह्य**, आन्तर स्थिति होने के कारण सूक्ष्मलिंग को **आभ्यन्तर** और 'भावलिंग' बाह्य और आभ्यन्तर दोनों स्थितियों से **'परतत्त्व'** कहा जाता है।।१४।।

अधुना ग्रन्थकार त्रिविध भेद को 'उपाधिभेद' से बताते हुए पुनः त्रिविध लिंगों के स्वरूप का सिद्धान्ततः प्रतिपादन करते हैं —

देहप्राणात्मरूपेण क्रियामन्त्रप्रयोगतः ।
बिन्दुनादकलाभेदाल्लिङ्गत्रयमुदाहृतम् ।।१५।।

'इष्टलिंग' देहस्थानीय होने से, 'प्राणलिंग' प्राणस्थानीय होने से और 'भावलिंग' आत्मस्थानीय होने से 'इष्टलिंग' **क्रियारूप**, 'प्राणलिंग' **मन्त्ररूप** और 'भावलिंग' **प्रयोगरूप** है। उपर्युक्त लिंगत्रिक (इष्टलिंग, प्राणलिंग, भावलिंग) का कथन **'बिन्दु, नाद और कला'** इस त्रिविध उपाधिभेद से किया गया है। अर्थात् 'बिन्दु' उपाधि से उपहित 'इष्टलिंग', 'नाद' उपाधि से संयुक्त 'प्राणलिंग' और 'कला' उपाधि से उपहित 'भावलिंग' को समझना चाहिए।।१५।।

एकमेकं स्थलं भूयो द्विविधं द्विविधं भवेत् ।।१६।।

भावलिङ्गस्थलं द्वेधा प्राणलिङ्गस्थलं द्विधा ।
इष्टलिङ्गस्थलं चैव द्विधा प्रोक्तं महात्मभिः ।।१७।।

वीरशैवाचार्यों ने उक्त त्रिविध लिंगस्थलों में प्रत्येक के दो प्रकारों का कथन किया है। अतः भावलिंगस्थल के दो प्रकार, प्राणलिंगस्थल के दो प्रकार और इष्टलिंगस्थल के दो प्रकार हैं ।।१६-१७।।

अधुना ग्रन्थकार प्रत्येक लिंग के द्विविध भेदों का कथन कर रहे हैं —

महालिङ्गं प्रसादाख्यं लिङ्गमित्युभयस्थलम् ।
भावलिङ्गं भवत्येव स्वानुभूतिप्रमाणतः ।।१८।।

भावलिंग के **'महालिंग'** और **'प्रसादलिंग'** ये दो भेद या प्रकार हैं। भेद के प्रामाण्य हेतु स्वतः अनुभव ही प्रमाण है।।१८।।

तथा च चरलिङ्गं च शिवलिङ्गमिति द्वयम् ।
प्राणलिङ्गं भवत्येव तात्पर्यार्थो न संशयः ।।१९।।

प्राणलिंग के द्विविध भेदों के कथन में निःसंशय तात्पर्यार्थरूप में कहा जा सकता है कि **'चरलिंग'** और **'शिवलिंग'** ये देहलिंग अथवा प्राणलिंग के दो प्रकार हैं ।।१९।।

गुरुलिङ्गं तथाऽऽचारलिङ्गमित्युभयस्थलम् ।
इष्टलिङ्गं भवत्येव सत्यमुक्तमिदं मया ।।२०।।

सत्य रूपेण कहा जाता है कि 'गुरुलिंग' और 'आचारलिंग' ये दो प्रकार 'इष्टलिंग' के हैं।।२०।।

अधुना ग्रन्थकार पूर्वोक्त षड्विध लिंगप्रकारों का संग्रहपूर्वक कथन कर रहे हैं —

महालिङ्गं प्रसादाख्यलिङ्गं च चरलिङ्गकम् ।
शिवलिङ्गं तथा चैव गुरुलिङ्गं ततः परम् ।।२१।।

आचारलिङ्गमित्येव लिङ्गं षड्विधमुच्यते ।
एवं हि षड्विधं भूतं लिङ्गं परमकारणम् ।।२२।।

१. महालिंग, २. प्रसादलिंग, ३. चरलिंग, ४. शिवलिंग, ५. गुरुलिंग और ६. आचारलिंग ये छः प्रकार के लिंग हैं। ये षड्विध लिंग ही प्रमुख कारण हैं।।२१-२२।।

स्वशक्तिवैभवाच्चैव स्वातन्त्र्याल्लीलयाऽपि च ।
शक्तयः षड्विधा ज्ञेयाः षट्स्थलेषु समाहिताः ।।२३।।

लिंगस्थलगत 'शक्ति' भी स्वतन्त्र होने से स्वसामर्थ्य एवं क्रीडारूप लीला से षड्विध लिंगों में विभक्त हो छः प्रकार की हो जाती है।।२३।।

अधुना ग्रन्थकार तत्तत् स्थलाभिमानी शक्तियों का क्रम से कथन कर रहे हैं —

शक्तीनामधुना तासां सद्भावो वर्ण्यते क्रमात् ।
शान्त्यतीतोत्तरा नाम चिच्छक्तिरिति कीर्तिता ।।२४।।

शान्त्यतीता पराशक्तिः शान्तिरेवादिसंज्ञिता ।
इच्छाशक्तिश्च विद्या स्यात्प्रतिष्ठा ज्ञानरूपिणी ।।२५।।

निवृत्तिः स्यात्क्रियाशक्तिरिति पर्यायसङ्गतिः ।
चिच्छक्तिश्च पराशक्तिरादिशक्तिस्तथैव च ।।२६।।

इच्छाज्ञानक्रियारूपाः शक्तयः षड्विधा मताः ।
स्थलानां शक्तियुक्तानां षण्णामेव पृथक् पृथक् ।।
स्वरूपलक्षणं चैव क्रमशो वर्ण्यतेऽधुना ।।२७।।

'शान्त्यतीतोत्तरा' नामक शक्ति को 'चित्' शक्ति, 'शान्त्यतीता' को पराशक्ति, 'शान्ति' को आदिशक्ति, 'इच्छा' को विद्याशक्ति, 'प्रतिष्ठा' को ज्ञानशक्ति और

'निवृत्ति' को क्रियाशक्ति कहते हैं। इस प्रकार चिच्छक्ति, पराशक्ति, आदिशक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति — ये छः शक्तियाँ हैं। अधुना तत्तत् शक्ति से उपहित **लिङ्गस्थल** का वर्णन क्रम से कर रहे हैं ।।२४-२७।।

आद्यन्तशून्यममलं परिपूर्णमेकं
सूक्ष्मं परात्परमनामयमप्रमेयम् ।
भावैकगम्यजडं शिवतत्त्वमाहु-
श्चिच्छक्तिसंस्फुरणरूपमहात्मलिङ्गम् ।।२८।।

जननमरणादि से रहित, निर्दुष्ट, परिपूर्ण, अद्वितीय, सूक्ष्म, परात्पर, भवरोग से वियुक्त, अगम्य एवं भाव अर्थात् भक्ति से जानने योग्य चैतन्यरूप शिवतत्त्व को चिच्छक्तिस्फुरणयुक्त 'महालिंग' कहते हैं।।२८।।

ज्योतिर्मयं निजमखण्डमतीन्द्रियार्थं
ज्ञानोपलब्धममृतं परिणामबीजम् ।
सादाख्यतत्त्वमुदितं परया स्वशक्त्या
प्राहुः प्रसादघनलिङ्गमुपाधिहीनम् ।।२९।।

ज्योतिंरूप, नित्य, नाशरहित, इन्द्रियादि से अगम्य अर्थात् अतीन्द्रिय, ज्ञानैकगम्य, मोक्षस्वरूप, समस्त प्रपञ्च का कारण एवं परा नामक स्वशक्ति से उद्भूत ऐसे सादाख्यतत्त्व को उपाधि से रहित 'प्रसादघनलिंग' कहते हैं।।२९।।

साभ्यन्तरङ्गबहिरङ्गममूर्ततत्त्वं
ज्योतिर्मयं पुरुषमक्षरतः पराख्यम् ।
स्वात्मादिशक्तिघटितं मनसैव नित्यं
ध्यातव्यमाप्तमतयश्चरलिङ्गमाहुः ।।३०।।

अन्तः और बाह्यरूप से प्रकाशित, ज्योतिर्मय, पुरुषस्वरूप प्रकृति तत्त्व से 'पर', स्वात्म आदिशक्ति से युक्त और मनोमात्रैकगोचर ऐसे अमूर्ततत्त्व को यथार्थवादी अर्थात् आप्तजन 'चरलिंग' कहते हैं।।३०।।

विद्याकलाकलितरूपसुशोभमानं
दिव्यप्रभापटलमेकसुखं प्रशान्तम् ।
इच्छास्वशक्तिपरिजृम्भितमूर्ततत्त्वं
व्यक्ते ह्यहङ्कृतिपदे शिवलिङ्गमाहुः ।।३१।।

ज्ञानकलारूप होने से सुशोभित, दिव्यप्रभापुञ्ज से प्रकाशित, अत्यन्त शान्त और अहंकार में अवस्थित 'इच्छाशक्ति' से व्याप्त ऐसे 'मूर्ततत्त्व' को **'शिवलिंग'** कहते हैं।।३१।।

स्वज्ञानशक्तिविभवोत्थितकर्तृतत्त्वं
सर्वोपदेशविधितन्त्रकृतप्रतिष्ठम् ।
तेजोनिधिं परमपारसुखाम्बुराशिं
बुद्धेः पदे विनिहितं गुरुलिङ्गमाहुः ।।३२।।

स्वस्थ 'ज्ञानशक्ति' के वैभव से उत्पन्न, समस्त आत्मोपदेशरूप शास्त्रों में सुप्रतिष्ठित, तेजरूप, सम्पूर्ण सुखों का आगर, 'बुद्धितत्त्व' में अवस्थित ऐसे कर्तृतत्त्व को **'गुरुलिंग'** कहा जाता है।।३२।।

कर्मात्मना सकलतत्त्वनिवासहेतो-
राधारभूतमचल क्रियया स्वशक्त्या ।
चित्तेन धार्यमधिरूढनिवृत्तिमार्गं
ह्याचारलिङ्गमिति वेदविदो वदन्ति ।।३३।।

स्थल में स्थित क्रियाशक्ति से 'स्थिर' होकर भी सकल तत्त्वों के निवास का कारण होने से आधारभूत, चित्तमात्र से जानने योग्य, निवृत्तिमार्गाभिमानी ऐसे कर्मतत्त्व को वेदज्ञ विद्वान् **'आचारलिंग'** कहते हैं।।३३।।

एवमेव स्वरूपं च लक्षणं परिकीर्तितम् ।
महालिङ्गस्थलादीनां षड्विधानां यथाक्रमम् ।।३४।।

उपर्युक्त प्रकार से महालिंगादि अर्थात् 'महालिंग, प्रसादघनलिंग, चरलिंग, शिवलिंग, गुरुलिंग और आचारलिंग' — षड्विध लिंगस्थलों का स्वरूप और लक्षणों का यथाक्रम से प्रतिपादन किया गया है।।३४।।

किन्त्वेतेषां स्थलानां तु प्रादुर्भावः प्रदर्श्यते ।
शिव एव स्वचिच्छक्त्या महालिङ्गस्थलं भवेत् ।।३५।।

पूर्वोक्त षड्विध लिंगस्थलों की उत्पत्ति का क्रम कह रहे हैं। साक्षात् शिव ही चित् शक्ति से युक्त 'महालिंगस्थल' होता है ।।३५।।

तदुपासकरूपत्वादैक्यस्थलमभून्महत् ।
स्फुरणाद् वै पराशक्तेर्महालिङ्गस्थले परे ।।३६।।

प्रसादलिङ्गसंज्ञं तु प्रादुरासीन्महास्थलम् ।
तदुपासकरूपत्वाच्छरणस्थलमाबभौ ॥३७॥

प्रादुर्भूते स्थले तस्मिन्नादिशक्तिप्रभावतः ।
स्थलं च चरलिङ्गाख्यं समुत्पन्नमनुत्तमम् ॥३८॥

पूर्वोक्त 'महालिंग' उपासकरूपी होने के कारण बृहत् 'ऐक्यस्थल' नामक अंगस्थल होता है और महालिंगस्थ 'पराशक्ति' के स्फुरण से 'प्रसादलिंग' होता है। 'प्रसादलिंग' उपासकस्थानीय होने से 'शरणस्थल' नामक 'अंगस्थल' कहलाता है और प्रसादलिंगगत आदिशक्ति के प्रभाव से उत्तम 'चरलिंग' का आविर्भाव होता है॥३६-३८॥

तदुपासकरूपत्वात् प्राणलिङ्गिस्थलं बभौ ।
स्थलात् समुत्थितं ज्योतिर्मयं तस्मात् सुशोभनम् ॥३९॥

शिवलिङ्गस्थलं साक्षादिच्छाशक्तिप्रभावतः ।
तदुपासकरूपत्वात् प्रसादिस्थलमुद्बभौ ॥४०॥

शिवलिङ्गस्थले ज्ञानशक्तिस्फुरणयोगतः ।
उदभूत् कारणत्वेन गुरुलिङ्गाभिधं स्थलम् ॥४१॥

तदुपासकरूपत्वान्माहेश्वरमहास्थलम् ।
गुरुलिङ्गस्थले तस्मिन् क्रियाशक्तिप्रभावतः ॥४२॥

आचारलिङ्गसंज्ञं तु स्थलं जातं सुशोधनम् ।
तदुपासकरूपत्वाद् भक्तस्थलमजायत ॥४३॥

पूर्वोक्त 'चरलिंग' उपासक होने के कारण 'प्राणलिंगिस्थल' नामक अंगस्थल हो जाता है, उस प्राणलिंगिस्थलगत 'इच्छाशक्ति' के प्रभाव से सुन्दर एवं ज्योतिरूप 'शिवलिंग' का आविर्भाव होता है। 'शिवलिंग' उपासकस्थानीय होने के कारण उससे 'प्रसादिस्थल' नामक अंगस्थल होता है और 'शिवलिंग'गत ज्ञानशक्ति के स्फुरण से कारणभूत 'गुरुलिंग' का प्रादुर्भाव होता है। 'गुरुलिंग' उपासकरूप होने के कारण उससे 'माहेश्वरस्थल' नामक अंगस्थल का निर्माण होता है और 'गुरुलिंग'गत क्रियाशक्ति के प्रभाव से उत्तम 'आचारलिंग' उत्पन्न होता है। 'आचारलिंग' के उपासक होने से उससे 'भक्तस्थल' उत्पन्न होता है॥३९-४३॥

अधुना ग्रन्थकार संग्रहपूर्वक पूर्वोक्त कथित षड्विध लिंगस्थलों का क्रम से परिगणन कर रहे हैं —

महालिङ्गं प्रसादाख्यलिङ्गं च चरलिङ्गकम् ।
शिवलिङ्गं तथा चैव गुरुलिङ्गं ततः परम् ।।४४।।

आचारलिङ्गमित्येवं प्रवृत्तिः सृष्टिमार्गतः ।
एवं लिङ्गस्थलं प्रोक्तं षड्विधं च समासतः ।।४५।।

सन्ति भेदोपभेदाश्च प्रत्येकं स्थलमत्र हि ।

सृष्टिक्रम से महालिंग, प्रसादलिंग, चरलिंग, शिवलिंग, गुरुलिंग और आचारलिंग ये छः लिंगस्थल हैं, जिनका परिगणन पूर्वोक्त श्लोकों द्वारा हुआ है। प्रत्येक लिंगस्थल के अनेक भेद-उपभेद हैं।।४४-४५।।

एतद्यो वेद सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरति प्रभुः ।
शिवसिद्धान्तकं तन्त्रं शिवाद्वैतं शिवं पदम् ।।४६।।

इति श्रीवातुलोत्तरतन्त्रे शिवानुभवसूत्रे षट्स्थलनिर्णये लिङ्गस्थल-निरूपणं नाम तृतीयाधिकरणं सम्पूर्णम् ।।

जो साधक, शिवाद्वैतप्रतिपादक और मोक्षदायक शिवसिद्धान्तशास्त्र का वेत्ता है अथवा मर्मज्ञ है, ऐसा समर्थ साधक अपनी अज्ञानग्रन्थि का उच्छेद कर देता है।।४६।।

इस प्रकार वातुलागम के उत्तरतन्त्र के शिवानुभवसूत्रोक्त षट्स्थलनिर्णयान्तर्गत लिंगस्थलनिरूपण नाम का तृतीय अधिकरण सम्पूर्ण हुआ।।३।।

*इत्यनुभवसूत्रे वैदिकतिलकमीमांसाभूषणपण्डित-
गजाननसदाशिवमुसलगाँवकरशास्त्रिणा कृते
किरणाख्यानुवादे लिङ्गस्थलनिरूपणं नाम
तृतीयाधिकरणं समाप्तिमगमत्।।*

चतुर्थाधिकरणेऽङ्गस्थलनिरूपणम्

वक्ष्ये संक्षेपमात्रेण पुरा शम्भुप्रचोदितम् ।
रहस्यं सारभूतार्थमङ्गस्थलनिरूपणम् ।।१।।

पुराकल्प में महादेव द्वारा उपदिष्ट 'अंगस्थल' निरूपण समस्त शास्त्रों का सारभूत और गुप्त अर्थ है, इस हेतु उस सारभूत अर्थरूप 'अंगस्थल' का निरूपण कर रहे हैं।।१।।

अधुना ग्रन्थकार 'अंगस्थल' की त्रिविध व्युत्पत्तियों का प्रदर्शन तीन श्लोकों द्वारा कर रहे हैं —

अनाद्यन्तमजं लिङ्गं तत्परं परमं प्रति ।
यद् गच्छति महाभक्त्या तदङ्गमिति निश्चितम् ।। २।।

'अ' अर्थात् अनाद्यन्त (जन्ममरणादि से रहित) 'स्वयम्भू' और 'ग' का अर्थ है एतत्प्रकारक परमलिंग के प्रति भक्तिपूर्वक जो गमन करता है, उसे 'अंगस्थल' कहते हैं ।।२।।

अधुना ग्रन्थकार अद्वैतपरक व्युत्पत्ति को दिखा रहे हैं —

अं भवेत् परमं ब्रह्म तद्गतं तत्परायणम् ।
अङ्गस्थलमिति प्राहुरङ्गतत्त्वविशारदाः ।।३।।

'अं' अर्थात् परब्रह्म और 'गं' का अर्थ है तत् स्थलप्रति गमन प्रवृत्ति से युक्त एवं तत् स्थलाभिमानी जो जीव उसे 'अंगस्थल' कहते हैं।।३।।

अन्तिम श्लोक से ग्रन्थकार संक्षेप से पुनः व्युत्पत्ति प्रदर्शित कर रहे हैं —

अमिति ब्रह्मसन्मात्रं गच्छतीति गमुच्यते ।
रूप्यतेऽङ्गमिति प्राज्ञैरङ्गतत्त्वविचिन्तकैः ।।४।।

'अं' का अर्थ होता है सन्मात्रात्मक 'ब्रह्म' और गमन रूप अर्थ का द्योतक 'ग' है, एतत् प्रकार से 'अंग' शब्द कि व्युत्पत्ति अंगतत्त्वविद् करते हैं।।४।।

ग्रन्थकार अंगस्थल के त्रिविध भेदों को कह रहे हैं —

अङ्गस्थलं त्रिधा ज्ञेयमाचार्यैः सूक्ष्मदर्शिभिः ।
योगाङ्गं प्रथमं प्रोक्तं भोगाङ्गं तु द्वितीयकम् ।।५।।

त्यागाङ्गं तु तृतीयं स्यादेवमेव त्रिधा भवेत् ।

सूक्ष्मदर्शी आचार्यों ने अंगस्थल के तीन प्रकार कहे हैं। उनके तीन प्रकार इस प्रकार होते हैं — प्रथम अंग '**योगांग**', द्वितीय '**भोगांग**' और तृतीय प्रकार '**त्यागांग**' है।।५।।

अधुना ग्रन्थकार प्रत्येक अंगस्थल के स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं —

शिवयोगसुखावाप्त्या योगाङ्गमिति गीयते ।।६।।

शिवेन सह भोगेन भोगाङ्गमिति कथ्यते ।
संसारभ्रान्तिसंत्यागात्त्यागाङ्गमिति पठ्यते ।।७।।

शिवयोगगत सुखप्राप्ति जिसके कारण होती है, उसे 'योगांग' कहते हैं। शिवसमानाधिकरणक भोग, अर्थात् शिव सह वर्तमान भोग जिससे प्राप्त होता है, उसे 'भोगांग' कहते हैं और संसार विषयक भ्रान्ति का त्याग जिससे संभव होता है, उसे 'त्यागांग' कहते हैं।।६-७।।

अद्वैतसिद्धान्तसम्मत त्रिविध शरीरों को अभिधानान्तर से ग्रन्थकार कह रहे हैं —

योगाङ्गं कारणं प्रोक्तं भोगाङ्गं सूक्ष्ममुच्यते ।
त्यागाङ्गस्थूलमित्युक्तमेवं भेदोपभेदतः ।।८।।

'योगांग' को '**कारणशरीर**' कहते हैं। और 'भोगांग' को '**सूक्ष्मशरीर**' कहा जाता है। तथा 'त्यागांग' को '**स्थूलशरीर**' इस नाम से व्यवहृत किया जाता है। इस प्रकार 'अंगस्थल' के भेद एवं उपभेदों को समझना चाहिए। अर्थात् अंगस्थल के तीन भेद 'योगांग' 'भोगांग' और 'त्यागांग' है और प्रत्येक के उपभेद क्रमशः कारण-सूक्ष्म-स्थूल शरीर हैं।।८।।

अधुना ग्रन्थकार अद्वैततन्त्रसम्मत अवस्थाभेद से पुनः त्रिविध अंगों को बता रहे हैं —

सुषुप्त्यवस्था योगाङ्गं भोगाङ्गं स्वापनाभिधा ।
जाग्रदित्युदितावस्था त्यागाङ्गमिति लक्ष्यते ।।९।।

योगांग **'सुषुप्ति'** की अवस्था है, भोगांग **'स्वप्न'** की अवस्था और **'जाग्रदवस्था'** को त्यागांग कहते हैं।।९।।

योगाङ्गं प्राज्ञ एव स्याद् भोगाङ्गं तैजसो भवेत् ।
त्यागाङ्गं विश्व एव स्यात् परमार्थनिरूपणे ।।१०।।

सुषुप्ति-अवस्था में 'योगांग' का व्यवहार होता है और तदभिमानी को **'प्राज्ञ'**, स्वप्नावस्था में **'भोगांग'** का व्यवहार होता है और तदभिमानी को **'तैजस'** तथा जाग्रदवस्था में 'त्यागांग' का व्यवहार होता है और तदभिमानी को **'विश्व'** कहते हैं।।१०।।

इत्येवं त्रिप्रकारैस्तत्प्रोक्तमङ्गस्थलं क्रमात् ।
प्रत्येकं पृथगर्थत्वात् साम्प्रतं प्रोच्यते द्विधा ।।११।।

उपर्युक्त प्रकार से 'अंगस्थल' के क्रमशः तीन प्रकार कहे गये हैं, जिनमें प्रत्येक के भिन्न-भिन्न अर्थ होने के कारण दो-दो प्रकार उपपन्न होते हैं।।११।।

इस प्रकार अंगस्थल के छः प्रकार सिद्ध होते हैं, जिनका विवेचन ग्रन्थकार आगे स्वयं कर रहे हैं —

योगाङ्गमैक्यं शरणस्थलमित्युभयं भवेत् ।
प्राणलिङ्गिप्रसादीति द्वयं भोगाङ्गमिष्यते ।।१२।।

'ऐक्यस्थल' और 'शरणस्थल' के भेद से योगांग के दो प्रकार और 'प्राणलिंगी' एवं 'प्रसादी' के भेद से भोगांग के दो प्रकार होते हैं।।१२।।

माहेश्वरस्थलं भक्तस्थलमित्युभयं तथा ।
त्यागाङ्गं भवतीत्येवं प्रोच्यते पारमार्थिकैः ।।१३।।

माहेश्वरस्थल और भक्तस्थल के भेद से त्यागांग के दो प्रकार होते हैं।।१३।।

कारणं हि भवेदैक्यं शरणं तु द्वयात्मकम् ।
सूक्ष्मं स्यात् प्राणलिङ्गीति प्रसादीत्युभयात्मकम् ।।१४।।

कारणशरीर **ऐक्य** और **शरण** इन दो स्थलों से युक्त है। सूक्ष्मशरीर **प्राणलिंगी** और **प्रसादी** इन दो स्थलों से युक्त है।।१४।।

स्थूलं माहेश्वरं भक्तमिति स्याद् द्वितयात्मकम् ।
प्राज्ञ एव भवेदैक्यस्थलं च शरणस्थलम् ।।१५।।

स्थूलशरीर '**माहेश्वर**' एवं '**भक्त**' इन दो स्थलों से युक्त है और प्राज्ञ जीव **ऐक्यस्थल** एवं **शरणस्थल** के भेद से दो प्रकार का है।।१५।।

तैजसः प्राणलिङ्गी स्यात् प्रसादीति तथैव च ।
विश्वो माहेश्वरं भक्तस्थलं चैव भवत्युमे ।।१६।।

तैजस-संज्ञित जीव **प्राणलिंगी** व **प्रसादी** के भेद से दो प्रकार का है और विश्व-संज्ञित जीव **माहेश्वर** और **भक्त** के भेद से दो प्रकार का है।।१६।।

ऐक्यं तु शरणं नाम प्राणलिङ्गि प्रसादि च ।
माहेश्वरं भक्तमिति क्रमात् षट्स्थलमुच्यते ।।१७।।

इस प्रकार, ऐक्यस्थल, शरणस्थल, प्राणलिंगिस्थल, प्रसादिस्थल, माहेश्वरस्थल तथा भक्तस्थल के भेद से छः प्रकार का होता है।।१७।।

स्थिरा यत्र परा भक्तिर्विना संसृतिसङ्गतिम् ।
स्थलं तदेतदित्याहुः स्थलशब्दार्थवादिनः ।।१८।।

संसरणात्मक संसार के सम्बन्ध के बिना उत्तम अथवा परा भक्ति जहाँ स्थिर हुई रहती है, उसे स्थल कहते हैं। इस प्रकार स्थलशब्दार्थ विज्ञजनों का अभिप्रेतार्थ है ।।१८।।

भक्तिवैचित्र्यसंयोगपरिणामप्रभावतः ।
नामरूपक्रियाभिन्नं षड्विधाङ्गस्थलं भवेत् ।।१९।।

भक्ति का **नानात्व**, **संयोग** एवं **विकार** इनके सामर्थ्य से एवं **नाम**, **रूप** और **क्रिया** से भिन्न अंगस्थल के छः प्रकार उपपन्न होते हैं।।१९।।

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रतानित्यमलुप्तशक्तिः।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ।।२०।।

शास्त्रज्ञ विद्वानों के मत से **सर्वज्ञता**, **तृप्ति**, **अनादिबोध**, **स्वतन्त्रता**, **अलुप्तशक्ति** और **अनन्तशक्ति** ये छः महेश्वर अर्थात् परमेश्वर के अंग हैं।। २०।।

षट्स्थलेषु प्रविश्यैषा भक्तिः षड्विधरूपिणी ।
क्रमात् प्रवर्तते तत्तल्लक्षणोपाधिभेदतः ।।२१।।

यह भक्ति षट्स्थलों में प्रवेश करके तत् तत् लक्षण की उपाधि भेद क्रम से छः प्रकार की हो जाती है।।२१।।

मधुरादिषु यत्षट्सु प्रविश्य सलिलं यथा ।
तत्तदाकारतो भाति तथा भक्तिः स्थले स्थले ।।२२।।

मधुरादि (मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त) छः रसों में प्रवेश करके जल जैसे अनेक स्वादों का भासता है, उसी प्रकार भक्ति षट्स्थलों में प्रवेश करके तत् तत् स्थलों में भिन्न-भिन्न भासती है।।२२।।

षड्विधाकारतो भिन्ना भक्तिः साक्षाच्छिवात्मिका ।
षण्णामैक्यादिभक्तान्तस्थलानां वर्तते पदे ।।२३।।

साक्षात् शिवात्मिका भक्ति षड्विध आकारों में परिणत होने से भिन्न हुई, ऐक्यादि अर्थात् ऐक्य, शरण, प्राणलिंगी, प्रसादी, महेश और भक्त छः स्थलों में रहती है।।२३।।

पूर्वोक्त अर्थ को पुनः पुष्ट करते हैं —

यथा शक्तिर्महालिङ्गाद्याचारान्तेष्ववस्थिता ।
तथैवैक्यादिभक्तान्तेष्वियं भक्तिरवस्थिता ।।२४।।

जैसे शक्ति महालिंगादि अर्थात् महालिंग, प्रसादलिंग, चरलिंग, शिवलिंग, गुरुलिंग और आचारलिंग में अवस्थित रहती है, तथैव ऐक्यादि छः स्थलों में भक्ति वर्तमान रहती है।।२४।।

अधुना ग्रन्थकार इतःप्रभृति षड्विध भक्तियों का उद्देश मात्र से वर्णन कर रहे हैं —

भक्तिः समरसाकारा प्रथमा परिगीयते ।
आनन्दाकारतो भाति द्वितीया भक्तिरुत्तमा ।।२५।।

प्रथम समरसाकारात्मिका समरस भक्ति है और द्वितीय आनन्दाकारात्मिका उत्तम आनन्दभक्ति है।।२५।।

तृतीयाऽनुभवाकारा भक्तिर्भवविनाशिनी ।
चतुर्थी परमा भक्तिरवधानात्मिका मता ।।२६।।

अनुभवाकारात्मिका संसारनाशक तृतीय अनुभवभक्ति है और अवधानात्मिका चतुर्थ परम अवधानभक्ति है।।२६।।

पञ्चमी नैष्ठिकी भक्तिः षष्ठी सद्भक्तिरीरिता ।
षड्धा भक्तिसमेतानामङ्गानामनुपूर्वशः ।।
पृथग् लक्षणसद्भावस्थितिरत्र निगद्यते ।।२७।।

पंचम भक्ति को **'नैष्ठिकी'**, कहते हैं और षष्ठ भक्ति **'सद्भक्ति'** के नाम से कही जाती है।।२७।।

अब ग्रन्थकार शास्त्रानुशासन के अनुसार उद्देश के अनन्तर भक्त्युपाधि से अवच्छिन्न अंगस्थलों के लक्षण और स्वरूप को बता रहे हैं —

नाहं त्वमप्रथितशब्दविभेदवृत्ति-
र्न प्राणदेहमनइन्द्रियभौतिकानि ।
सर्वं भ्रमात्मकमिदं मयि नेतिभावा-
दैक्यस्थलं समरसं सुखरूपमाहुः ।।२८।।

अस्मत्-युष्मत् प्रत्ययगोचर भेद अर्थात् 'मैं' अथवा 'तू' इत्यादि भेद मिथ्या हैं। व्यवहार में व्यवहृत शब्दों द्वारा संकेतित भेदभाव भी मिथ्या है। मन, प्राणपंचक, एकादशेन्द्रिय और पंचमहाभूत भी मिथ्या हैं, किंबहुना यच्चयावत् समस्त भ्रमात्मक है। यह पूर्वोक्त भ्रम मुझमें नहीं है, इस हेतु यह **ऐक्यस्थल** समरस और **सुखस्वरूप** है।।२८।।

ज्ञानप्रकाशबलतः स्वयमेव लिङ्गं
देहेन्द्रियादिममरूपमिति प्रबुध्य ।
युक्ते समस्तविषये सति यद्विशुद्धं
तत्प्राहुरागमविदः शरणस्थलं हि ।।२९।।

मैं स्वतः लिंग हूँ, देह, इन्द्रिय इत्यादि मेरे ही रूप हैं। ज्ञान के प्रकाशबल से समस्त विषयादिकों के स्थान में इत्याकारक भावना होने पर जो विशुद्ध तत्त्व अवशिष्ट रहता है, आगमिक विद्वान् उसे **'शरणस्थल'** कहते हैं।।२९।।

प्राणेन्द्रियादिषु ममाहमिति प्रमोहं
संभ्रान्तिसिद्धमपहाय समस्तमेतत् ।
लिङ्गे निधाय मनसा यदनुप्रयुक्तं
तत्प्राणलिङ्गि सुचरस्थलमाहुरार्याः ।।३०।।

प्राण, इन्द्रियादि में जो ममत्वबुद्धि होती है, इत्याकारक वह अहंकार नितान्त भ्रम है, ऐसा समझते हुए देहादिकादि से उपरत होकर पंचप्राणोंसहित मन को लिंग स्थान में लगाना इसे ही प्राणलिंगिस्थल कहते हैं ।।३०।।

आत्मोपभोगविषयाणि हि सावधानं
द्रव्याण्यहङ्कृतिमितैरखिलैः खवर्गैः ।
लिङ्गे समर्प्य बहुशो लभते प्रसादं
यत्तत्प्रसादि गदितं गुरुभिः स्थलं स्यात् ।।३१।।

अहंकारबोधित समस्त इन्द्रियवर्ग एवं आत्मा के उपयुक्त भोगजात समस्त पदार्थों को अवधानपूर्वक लिङ्गस्थल में अर्पण करने के उपरान्त प्राप्त होनेवाले अनेकविध अनुग्रहरूप प्रसाद को आप्त आचार्यों ने **प्रसादिलिंग** कहा है।।३१।।

आस्तिक्यबुद्धिनियमव्रतसत्यधर्म-
शौचादिलक्षणपरिस्फुटसच्चरित्रम् ।
लिङ्गैक्यनैष्ठिकतया सह वीरवृत्तं
माहेश्वरस्थलमिति प्रवदन्ति सन्तः ।।३२।।

ईश्वर के अस्तित्व में दृढ श्रद्धा, नियम, शिवव्रतादि, सत्यधर्म और पवित्रता इत्यादि लक्षणों से विशिष्ट सद्वर्तन और लिङ्गैक्य में दृढभावयुक्त वीरव्रत, इसे शैवाचार्य **'माहेश्वर-स्थल'** कहते हैं ।।३२।।

मिथ्यैव सत्यमिव भातमिदं शरीरं
प्राणार्थजातमिति तत्र निवृत्तचित्तम् ।
भक्तिक्रियाचरणयैव सदा विरक्तं
भक्तस्थलं भवविकारविदूरमाहुः ।।३३।।

मिथ्या रहकर भी सत्य के समान भासित होनेवाले शरीर, प्राण और समस्त पदार्थ-समूह से मन को उपरत करके, भक्ति व कर्म का आचरण करते हुए विरक्त भाव को संसारनाशात्मक **'भक्तस्थल'** कहा जाता है।।३३।।

एवमेव क्रमात् प्रोक्तमैक्यादीनां सुवर्चसाम् ।
षड्विधाश्रमिणामेषां पृथगाचारलक्षणम् ।।३४।।

इस प्रकार यहाँ (श्लो० २८-३३) क्रम से ऐक्यादि छः स्थलों के लक्षण और तत् तत् आश्रमियों के आचारों का कथन किया गया है।।३४।।

आविर्भूतेरथैतेषामीषद् भेदः प्रदर्श्यते ।
आत्मनाऽऽकाशसम्भूतिराकाशाद्वायुसंभवः ।।३५।।

वायोरग्निसमुत्पत्तिरग्नेराप उदाहृताः ।
अद्भ्यस्तु पृथ्वीसंभूतिर्लक्षणैक्यप्रभावतः ।।३६।।

ग्रन्थकार मायिदेव **''तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः''** इत्यादि श्रुति का अनुसरण करते हुए अधुना छः स्थलों की श्रुत्यनुमोदित उत्पत्ति का वर्णन करते हैं — आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि उत्पन्न हुआ, अग्नि से जल उत्पन्न हुए और आत्मा और पञ्च महाभूतों के लक्षणैक्य प्रभाव से जल से पृथ्वी का संभव हुआ।।३५-३६।।

ऐक्यस्थलादिभक्तान्तस्थलसम्भूतिरीरिता ।
ऐक्यादिभक्तपर्यन्ताश्रमिणां षट्स्थलात्मनाम् ।।३७।।

अङ्गानामधुना तेषामङ्गलक्षणमुच्यते ।
आत्माङ्गमैक्यमेव स्याद् व्योमाङ्गं शरणस्थलम् ।।३८।।

ऐक्यस्थल से भक्तस्थल तक छः स्थलों की उत्पत्ति बतायी गयी हैं। अब ऐक्यस्थल से भक्तस्थल तक विद्यमान छः अङ्गस्थलों के अङ्गलक्षणों (शरीरलक्षणों) को बता रहे हैं। ऐक्यस्थल का अङ्ग **आत्मा**, शरणस्थल का अङ्ग **व्योम** (आकाश) ।।३७-३८।।

वाय्वङ्गं प्राणलिङ्गि स्यादनलाङ्गं प्रसादि च ।
माहेश्वरं जलाङ्गं स्याद् भक्तं भूम्यङ्गमिष्यते ।।३९।।

प्राणलिंगिस्थल का अंग **वायु**, प्रसादिस्थल का अंग **अग्नि**, माहेश्वरस्थल का अंग **जल** (उदक) और भक्तस्थल का अंग **भूमि** है।।३९।।

बिन्दुनादकलाभेदात् त्रिविधानि विलोमतः ।
षट्स्थलानि विभक्तानि द्वितयं द्वितयं क्रमात् ।।४०।।

माहेश्वरस्थल तथा भक्तस्थल ये दोनों ही बिन्द्वात्मक हैं। प्राणलिंगिस्थल तथा प्रसादिस्थल, ये दोनों ही **नादात्मक** हैं। ऐक्यस्थल तथा शरणस्थल, ये दोनों ही **कलात्मक** हैं।।४०।।

शरीरप्राणजीवानां त्रयाणां भेदतः क्रमात् ।
विलोमतो विभक्तानि षट्स्थलान्युभयोमयम् ।।४१।।

शरीर, प्राण तथा जीव — इन तीनों के भेदों से क्रमशः भक्तस्थल तथा माहेश्वरस्थल — ये (दोनों ही) **शरीरात्मक** हैं; प्रसादिस्थल तथा प्राणलिंगिस्थल — ये (दोनों ही) **प्राणात्मक** हैं और शरणस्थल तथा ऐक्यस्थल ये (दोनों ही) **जीवात्मक** हैं ।।४१।।

षट्स्थलानि विभागेन द्विविधानि परस्परम् ।
ज्ञानात्मकतया त्रीणि क्रियात्मकतया तथा ।।४२।।

ज्ञानात्मकस्थलं ह्यैक्यं शरणं प्राणलिङ्गिकम् ।
क्रियात्मकं प्रसादि स्यान्माहेश्वरमतः परम् ।।४३।।

ज्ञान तथा क्रिया — इन दोनों से ऐक्यादि छः स्थल दो प्रकार के होते हैं। वे इस प्रकार हैं — ऐक्यस्थल, शरणस्थल, प्राणलिंगिस्थल — ये तीनों **ज्ञानात्मक** हैं। प्रसादिस्थल, माहेश्वरस्थल और भक्तस्थल — ये तीनों **क्रियात्मक** हैं ।।४२-४३।।

ऐक्यं च शरणं नाम प्राणलिङ्गि प्रसादि च ।
माहेश्वरं भक्तमिति प्रवृत्तिः सृष्टिमार्गतः ।।४४।।

इस प्रकार सृष्टि मार्ग से — ऐक्यस्थल, शरणस्थल, प्राणलिंगिस्थल, प्रसादिस्थल, माहेश्वरस्थल, भक्तस्थल — इन षट्स्थलों की प्रवृत्ति कही गयी है।।४४।।

एवमङ्गस्थलं प्रोक्तं षड्विधं तु समासतः ।
इतः परं न वक्तव्यं शेषोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः ।।४५।।

इस प्रकार संक्षेप में छः स्थलों को बताया गया है। ग्रन्थविस्तार के भय से यहाँ अधिक नहीं कहा है।।४५।।

एतद्यो वेद सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरति प्रभुः ।
शिवसिद्धान्तकं तन्त्रं शिवाद्वैतं शिवं पदम् ।।४६।।

इति श्रीवातुलोत्तरतन्त्रे शिवानुभवसूत्रे षट्स्थलनिर्णयेऽङ्गस्थल-निरूपणं नाम चतुर्थाधिकरणं सम्पूर्णम्।।४।।

इस शिवाद्वैतप्रतिपादक तथा मोक्षपददायक शिवसिद्धान्तशास्त्र को जो जानता है, वह समर्थ (ज्ञानसम्पन्न) मानव अपने अज्ञान का नाश करता है।।४६।।

इस प्रकार वातुलागम के उत्तरतंन्त्र के शिवानुभवसूत्रोक्त षट्स्थलनिर्णयान्तर्गत, अंगस्थल निरूपण नाम का चतुर्थ अधिकरण सम्पूर्ण हुआ।।४।।

इत्यनुभवसूत्रे वैदिकतिलकमीमांसाभूषणपण्डित-
गजाननसदाशिवमुसलगाँवकरशास्त्रिणा कृते
किरणाख्यानुवादेऽङ्गस्थलनिरूपणं नाम
चतुर्थाधिकरणं समाप्तिमगमत्।।

❖

पञ्चमाधिकरणे लिङ्गाङ्गसंयोगविधिः

अथेश्वरेणोक्तमतीव गुह्यं
देव्या कृतप्रश्नसुनिश्चितार्थम् ।
गुरूपदेशानुभवप्रसिद्धं
लिङ्गाङ्गसंयोगविधिं प्रवक्ष्ये ।।१।।

महादेवी पार्वती के प्रश्न करने के उपरान्त महादेव के द्वारा अनुगदित अत्यन्त गुप्त सुनिश्चितार्थ का, जो गुरु के उपदेश से क्रियाचरण से जाना जाता है, उस परमाद्भुत लिंगांगसंयोग का अथवा ऐक्यभाव के प्रकार का कथन किया जायगा ।।१।।

शिव एव स्वयं लिङ्गमात्मैवाङ्गस्थलं भवेत् ।
तयोः शिवात्मनोः सम्यग् योगः संयोग एव हि ।।२।।

'शिव' ही लिंगस्थल है और 'जीव' अंगस्थल का वाचक है। उन शिव और जीव के उत्तम संयोग को योग कहा जाता है ।।२।।

आत्मायं केवलः शुद्धः शिवस्यांशः सदाऽमलः ।
नित्यो निरञ्जनः शान्तस्तस्मादात्मा स्वयं शिवः ।।३।।

यह आत्मा अर्थात् जीव अद्वितीय, शुद्ध शिव का अंश है, इस हेतु जीव भी नित्य, निरंजन और शान्त है। तत् सम्बन्ध से जीव साक्षात् शिवरूप ही सिद्ध होता है ।।३।।

सोऽयमात्मा शिवाङ्गं स्याच्छिवेनाङ्गीकृतत्वतः ।
सर्वज्ञत्वादिभेदैश्च शिवाङ्गमिदमिष्यते ।।४।।

शिव के द्वारा अङ्गीकृत हुए जीव को शिवांग कहते हैं, सर्वज्ञत्वादि विशेषणों से जीव को शिवांग कहा जाना योग्य है।।४।।

सर्वज्ञत्वं च तृप्तित्वं तथाऽनादिप्रबोधता ।
स्वतन्त्रतापि चालुप्तशक्तिताऽनन्तशक्तिता ।।५।।

ग्रन्थकार उपर्युक्त अर्थ को पुनः अधिक स्पष्ट कर रहे हैं —

इत्येतैर्लक्षणैः षड्भिः शिवाङ्गमिति लक्ष्यते ।
तस्मादङ्गस्थलं साक्षादात्मैव हि न संशयः ।।६।।

सर्वज्ञत्व, नित्यतृप्तत्व, अनादिप्रबोधता, स्वतन्त्रता, अलुप्तशक्ति और अनन्तशक्ति इन छः लक्षणों से लक्षित जीव को शिवांग कहा जाता है, तस्मात् अंगस्थल साक्षात् जीव ही है, इसमें संशय नहीं ।।५-६।।

लिङ्गस्थलं शिवः साक्षात् सत्यमेव मयोदितम् ।
यथा लिङ्गस्थलं शक्त्या स्वीयया बहुधा भवेत् ।।७।।

तथा चाङ्गस्थलं भक्त्या स्वीयया बहुधा भवेत् ।

साक्षात् शिव ही लिंगस्थल है, मेरे द्वारा कथित ये वचन सत्य हैं। जैसे लिंगस्थल स्वकीय शक्ति से उपहित अथवा अवच्छिन्न होकर छः भेदोंवाला हो जाता है, तथैव अंगस्थल भी स्वकीय भक्ति से उपहित होता हुआ छः प्रकार का हो जाता है।।७।।

यद्यल्लिङ्गस्थलं साक्षाच्छिवो भवति शक्तितः ।।८।।

तत्तदङ्गस्थलं साक्षादात्मा भवति भक्तितः ।

शक्ति से उपहित हुआ शिव, लिंगस्थल के जो-जो साक्षात् रूपों में परिणत होता है, तत्-तत् अंगस्थल के भक्ति रूप से उपहित हुआ जीव धारण करता है ।।८।।

अधुना ग्रन्थकार शिव और जीव के मध्य स्थापित उपास्य-उपासकभाव को कहते हैं —

यद्यद्रूपमुपास्यत्वाच्छिवो भवति शक्तिमान् ।।९।।

उपासकत्वतश्चात्मा तत्तदाप्नोति भक्तिमान् ।

'शिव' उपास्य हैं, इस हेतु शक्ति से संयुक्त हुआ वह (शिव) जिन-जिन उपास्य रूपों को धारण करता है, तदनुरूप 'उपासक' होने से जीव भी भक्ति के साथ वर्तमान उन-उन उपासक रूपों को धारण करता है ।।९।।

अधुना ग्रन्थकार शिव और जीव के **पूज्यपूजकभाव** को स्पष्ट कर रहे हैं—

यद्यत् स्वरूपमाधत्ते पूज्यत्वेन महेश्वरः ।।१०।।

पूजकत्वेन चात्मानं तत्तद्रूपमनुव्रजेत् ।

ईश्वर **पूज्य** होने से जिन-जिन रूपों को धारण करता है, तदनुरूप जीव भी **पूजकभाव** से उन-उन रूपों को धारण करता है।।१०।।

शिव और जीव के मध्य घटित **साध्यसाधकभाव** को ग्रन्थकार स्पष्ट कर रहे हैं —

यद्यत् स्वरूपमाधत्ते साध्यत्वात् परमेश्वरः ।।११।।

साधकत्वादसावात्मा तत्तदास्थाय तिष्ठति ।

ईश्वर **साध्य** होने से जिन-जिन रूपों को धारण करता है, उन-उन रूपों का **साधक** होने से जीव भी आश्रय करता है ।।११।।

अन्त में शिव और जीव के **गुरुशिष्यभाव** को बताया जा रहा है —

यद्यत् स्वरूपमाधत्ते गुरुत्वेनाम्बिकापतिः ।।१२।।

शिष्यत्वेनायमात्मा तत्तदादाय वर्तते ।

अम्बिकापति अर्थात् शिव **गुरु** होकर जिन-जिन स्वरूपों को धारण करता है, उन-उन रूपों का **शिष्य** होकर जीव भी अनुसरण करता है ।।१२।।

उपास्योपासकौ पूज्यपूजकौ साध्यसाधकौ ।।१३।।

गुरुशिष्यौ शिवात्मानौ निगद्येते महात्मभिः ।

शिवोपासक महात्मा उपास्य-उपासक, पूज्य-पूजक, साध्य-साधक और गुरु-शिष्य को अनुक्रम से शिव और जीव कहते हैं ।।१३।।

अधुना ग्रन्थकार संयोगशब्द की व्युत्पत्ति दिखा रहे हैं —

अथ संयोगसद्भाव उच्यते साम्प्रतं मया ।।१४।।

सम्यग् योगो हि संयोगो भवेल्लिङ्गाङ्गयोः सदा ।

उपास्यादिभावों से शिव और जीव के कथन के अनन्तर संयोग शब्द की व्युत्पत्ति मेरे द्वारा कही जा रही है। लिंग एवं अंग अर्थात् शिव और जीव के समीचीन योग को ही संयोग कहा जाता है।।१४।।

संयोग एव सायुज्यरूपमुक्तिर्न चापरा ।।१५।।

तस्माल्लिङ्गाङ्गसंयोगात् परामुक्तिर्न विद्यते ।

लिंगांग अर्थात् शिव और जीव के निंत्य संयोग को **'सायुज्यमुक्ति'** कहते हैं। अतः लिंगांगसंयोग से पृथक् अन्य कोई मुक्ति नहीं होती।।१५।।

मुक्तेः परतरा भक्तिरिति सत्यपरा श्रुतिः ।।१६।।
इतः परं न वक्तव्यं बहुनोक्तेन किं फलम् ।

प्रकृत प्रसंग में अधिक चर्चा निष्प्रयोजनता का कारण ही है। किंबहुना सनातन श्रुति के अनुसार उत्तम मुक्ति को ही **'भक्ति'** कहा जाता है।।१६।।

ततो लिङ्गाङ्गसंयोगविधिरत्र प्रदर्श्यते ।।१७।।
विधिः कर्तव्यरूपोपदेश इत्येव निश्चितः ।

संयोगशब्द के निर्वचन के पश्चात् लिंगांगसंयोग की पद्धति को दिखाया जा रहा है। कर्तव्य कर्म के विषय में प्रदत्त उपदेश को विधि कहा जाता है।।१७।।

अधुना ग्रन्थकार प्रकृत प्रसंग में **''समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्''** इत्यादि श्रुत्यनुमोदित शिवसायुज्यमुक्ति के इच्छुक मुमुक्ष के कर्तव्य का कथन कर रहे हैं —

उपदेशप्रसिद्ध्यर्थमाचार्यं भवतारकम् ।।१८।।
शिवविद्याप्रदातारमविद्याग्रन्थिभेदकम् ।
शिवसिद्धान्ततन्त्रैककर्तारं परमं शिवम् ।।१९।।
सदा लिङ्गाङ्गसंयोगपरायणमनामयम् ।
उपगच्छत्यसौ देही स्वाविद्याविनिवृत्तये ।।२०।।

जन्म-मरणरूप संसार के त्रिविध (आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक) दुःखरूप अज्ञान की निवृत्तिहेतु जीव, अर्थात् मनुष्य, भवतारक (संसारनाशक), शिवज्ञानदाता, अज्ञाननाशक, शिवाद्वैतप्रतिपादक शास्त्रकर्ता, परशिवसमान, नित्य-लिंगांगसंयोगी रोगमुक्त ऐसे गुरु अथवा आचार्य की शरण जाता है, अथवा बड़ी श्रद्धा से उनके उपदेशों का श्रवण करता हुआ मन, वाणी तथा शरीर से उनकी सेवा करता है।।१८-२०।।

सोऽयमात्मा स्वयं साक्षाच्छिवस्यांशोऽपि तत्त्वः ।
व्यवहारदशायां तु संसारीव प्रकाशते ।।२१।।

तत्त्वतः यह जीवात्मा साक्षात् शिव का ही अंश है, परन्तु **व्यवहार दशा** में वह संसारी के समान **भासित** होता है।।२१।।

संसारोऽविद्यया चास्य सत्यवत् परिकल्पितः ।
देहेन्द्रियादिसंघातेऽहंममभ्रान्तिरूपतः ।।२२।।

जीव को यह संसार अविद्या के द्वारा सत्य के समान प्रतीत होता है और देह-इन्द्रियादि में जो **'अहं'** अर्थात् ममत्वबुद्धि होती है, उसमें कारण भ्रम है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीव के द्वारा अपने को स्थूल-कृश, अन्ध-बधिर आदि समझना ही इन्द्रियों के धर्मों का आरोप स्वयं पर करना है और उससे अपने को सुखी-दु:खी समझना, यह सब अविद्या-विजृम्भित भ्रम का ही फल है।।२२।।

स्वस्मिन्नेव स्थिताऽविद्यामोहितः पुरुषः स्वकम् ।
शिवांशत्वं स्वकां शक्तिमविज्ञाय स्वकर्मणा ।।२३।।

अविद्या में अवस्थित हुआ जीव 'मैं शिव का अंश हूँ, मुझमें शक्ति है' अपने प्राक्तन कर्मों के कारण यह जान नहीं पाता ।।२३।।

कोऽहमित्यब्रवीद् देही गुरुं परमकारणम् ।
गुरुस्तत्त्वमसीत्याह सत्यार्थं करुणानिधिः ।।२४।।

उपर्युक्त दशा में अवस्थित जीव अविद्यानिवृत्ति रूप मुक्ति में परमकारण गुरु के समीप जाकर पूछता है कि 'मैं कौन हूँ?' तब परम कारुणिक गुरु शिष्य से 'तू परब्रह्म है' इत्यादि सत्यार्थ का निरूपण करता है।।२४।।

अविद्याकृतकं सर्वमिदं देहेन्द्रियादिकम् ।
असत्यं भ्रान्तिसंसिद्धं सत्यवत् परिवर्तते ।।२५।।

(हे शिष्य!) यच्चयावत् देहेन्द्रियादि पदार्थ अविद्या अर्थात् अज्ञान के कार्य हैं, ये समस्त अज्ञान द्वारा विनिर्मित पदार्थ मिथ्या हैं, तथापि अज्ञानावरण के कारण सत्यवत् अर्थात् सत्य के समान परिलक्षित होते हैं।।२५।।

तस्मात् तत्कृतकभ्रान्तिविनाशार्थमहो तव ।
नित्यं लिङ्गाङ्गसंयोगज्ञाननिष्ठत्वमावह ।।२६।।

(हे शिष्य!) अतः अविद्या के द्वारा प्राप्त भ्रम के निरास के लिए मनुष्य को लिंगांगसंयोग के ज्ञान में निष्ठा करनी चाहिए।।२६।।

अब ग्रन्थकार **'तत्त्वमसि'** — वही तुम हो, इस महावाक्य के अर्थ को बता रहे हैं। वाक्यार्थ के ज्ञान में पदों के अर्थज्ञान को कारण माना जाता है,

क्योंकि किसी भी वाक्य का अर्थ जानना हो तो उस वाक्य के प्रत्येक पद का अर्थ जानना आवश्यक होता है, इसी आशय को ग्रन्थकार स्पष्ट कर रहे हैं —

लिङ्गं तत्पदमाख्यातमङ्गं त्वंपदमीरितम् ।
संयोगोऽसिपदप्रोक्तमनयोरङ्गलिङ्गयोः ।।२७।।

(हे शिष्य!) **'तत्त्वमसि'** महावाक्य में **तत्, त्वम्** और **असि** ये तीन पद हैं। 'तत्' पद का अर्थ शिव अर्थात् लिंग है, त्वं पद का अर्थ अंग या जीव है और **लिंगांगसंयोग** को 'असि' पद से कहा जाता है।।२७।।

सम्प्रति ग्रन्थकार लिंगांगसंयोग की ब्रह्मरूपता को प्रदर्शित कर रहे हैं —

सन्मात्रं लिङ्गमाख्यातं चिन्मात्रं त्वङ्गमीरितम् ।
आनन्दमात्रमनयोः संयोग इति कीर्तितः ।।२८।।

(हे शिष्य!) जो त्रिकालाबाध्य है, अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान किसी भी काल में जिसका बाध नहीं होता, उसे सत् कहते हैं। वीरशैव सिद्धान्त में सत् पदार्थ एकमात्र लिंग अर्थात् शिव ही हैं। आत्मा चैतन्यस्वरूप है, क्योंकि चैतन्य ही आत्मा का स्वरूप है। इस हेतु कहा है कि अंग चित्मात्र है और लिंग एवं अंग का संयोग **आनन्दपद** का बोधक है।।२८।।

नादो लिङ्गमिति प्रोक्तो बिन्दुरङ्गमितीरितः ।
कला संयोग इत्युक्ता तयोर्लिङ्गाङ्गयोस्तथा ।।२९।।

(हे शिष्य!) लिंगस्थल नाद है, अंग अर्थात् जीव **बिन्दु** है और उन लिंग एवं अंग के संयोग को **'कला'** कहते हैं।।२९।।

मन्त्रो लिङ्गमिति प्रोक्तः क्रिया त्वङ्गमितीरिता ।
क्रियामन्त्रप्रयोगस्तु संयोगो ह्यङ्गलिङ्गयोः ।।३०।।

(हे शिष्य!) लिंग **'मन्त्र'** है और अंग **'क्रिया'** है तथा लिंग एवं अंग के संयोग को **क्रियामन्त्रप्रयोग** कहा जाता है।।३०।।

अङ्गं प्रकृतिराख्यातं लिङ्गं पुरुष ईरितः ।
तयोः प्रेरकभावेन संयोगः स्वयमीश्वरः ।।३१।।

(हे शिष्य!) अंग **'प्रकृति'** है और पुरुष **'अंग'** है तथा प्रकृति और पुरुष का जो प्रेरकत्वभाव से संयोग होता है, उसे साक्षात् **ईश्वर** कहा जाता है।।३१।।

अकारो लिङ्गमित्युक्तश्चोङ्कारोऽङ्गमितीरितः ।
संयोगोऽयं मकारः स्यात् प्रणवांशप्रभेदतः ।।३२।।

(हे शिष्य!) लिंग **'अकार'** है, अंग **'उकार'** है तथा लिंग एवं अंग का संयोग **'मकार'** है। अर्थात् लिंग एवं अंग तथा लिंगांगसंयोग, ये **ॐकार** के ही अंश हैं।।३२।।

ह्रस्वः स्याल्लिङ्गमेवाङ्गं दीर्घः प्लुतमतः परम् ।
तयोः संयोग इत्येवमोङ्कारेणाभिधीयते ।।३३।।

(हे शिष्य!) लिंग **'ह्रस्व'** है और अंग **'दीर्घ'** है तथा लिंग एवं अंग का संयोग **'प्लुत'** होता है। यही अर्थ ओङ्कार से ध्वनित अथवा प्रकाशित होता है।।३३।।

वागङ्गं लिङ्गमेवार्थः प्रतिपत्तिस्तयोः सदा ।
संयोग इति विद्वद्भिः प्रोक्तो लिङ्गाङ्गयोगिभिः ।।३४।।

(हे शिष्य!) वाग् अर्थात् **'शब्द'** अंग है तथा लिंग **'अर्थ'** है और लिंगांग के नित्य संयोग को **'शब्दार्थज्ञान'** कहते हैं।।३४।।

छायातपौ जीवशिवावसौ गुरुः
शिवोऽस्य शिष्यः खलु जीवसंज्ञकः ।
लिङ्गं परं हृद्गगनं तदङ्गकं
प्राणानिलोऽयं शिवसूत्रमुच्यते ।।३५।।

अनुभवसूत्रं सूत्रं शिवसिद्धान्तसंज्ञकं तन्त्रम् ।
लिङ्गं षट्स्थलपरमब्रह्मैवेत्यत्र धारयेत् सततम् ।।३६।।

इत्युक्त्वा पुरुषस्यास्य देशिकः करुणाबलात् ।
चक्रे दीक्षां महाशैवीमविद्यापाशकृन्तनीम् ।।३७।।

ग्रन्थकार उपसंहार करते हुए कहते हैं कि (हे शिष्य!) जीव **'छाया'** है व शिव **'प्रकाश'** है। शिव **'गुरु'** हैं और जीव **'शिष्य'** है। लिंग **'परब्रह्म'** है तथा अंग **'हृदयाकाश'** है। प्राणवायु **'शिवसूत्र'** है। शिवाद्वैतप्रतिपादक शास्त्र **अनुभवसूत्र** है और लिंग **'षट्स्थलपरब्रह्म'** है — इत्याकारक धारणा वीरशैव को सतत और सर्वदा करनी चाहिए।

उपर्युक्त प्रकार से उपदेश करके करुणासम्पन्न आचार्य शरणागत शिष्य को अविद्यानाशक **'शैवदीक्षा'** देता है।।३५-३७।।

अब ग्रन्थकार क्रमप्राप्त '**दीक्षा**' शब्द के अर्थ को स्पष्ट कर रहे हैं —

दीयते लिङ्गसम्बन्धः क्षीयते च मलत्रयम् ।
दीयते क्षीयते यस्मात् सा दीक्षेति निगद्यते ।।३८।।

दीक्षा शब्द (दी + क्षा) से बना है। लिंग के सम्बन्ध को '**दी**' अर्थात् देती है एवं मलत्रय अर्थात् कायिक, वाचिक और मानसिक इन तीन प्रकार के पापों का '**क्षा**' अर्थात् क्षय करती है, इस हेतु उसे '**दीक्षा**' कहा जाता है।।३८।।

सा दीक्षा परमा शैवी त्रिधा भवति निर्मला ।
एका वेधात्मिका साक्षादन्या मन्त्रात्मिका मता ।। ३९ ।।

क्रियात्मिका परा काचिदेवमेव त्रिधा भवेत् ।

लिंगसम्बन्धदायिनी, मलत्रयनाशिनी वह निर्मल दीक्षा तीन प्रकार की है। उसके **वेधात्मक, मन्त्रात्मक** और **क्रियात्मक** यें तीन भेद हैं। इस प्रकार वह दीक्षा तीन प्रकार वाली है।।३९।।

अधुना ग्रन्थकार तीनों दीक्षाओं के स्वरूपों का वर्णन कर रहे हैं —

हस्तमस्तकसंयोगच्छलाद् वेधेति गीयते ।।४०।।

गुरुणोदीरिता कर्णे या सा मान्त्रीति कथ्यते ।
शिष्यपाणितले दत्ता या दीक्षा सा क्रियोच्यते ।।४१।।

गुरु के द्वारा शिष्य को हस्त-मस्तकसंयोगपूर्वक दी जानेवाली दीक्षा को '**वेधात्मक**' कहते हैं।

गुरु के द्वारा शिष्य के कान में मन्त्रोपदेशपूर्वक दी जानेवाली दीक्षा को '**मन्त्रात्मक**' कहते हैं।

गुरु के द्वारा शिष्य के हाथ में शिवलिंग देकर उपदेशपूर्वक जो दीक्षा दी जाती है, उसे '**क्रियात्मक**' कहते हैं।।४०-४१।।

पाशानशेषान् कर्तर्या छित्त्वा लिङ्गं समादिशेत् ।
कर्तरी शिवदीक्षा स्याद्यया पाशान् च्छिनत्यसौ ।।४२।।

वह परमकारुणिक आचार्य जिसके द्वारा शिष्य के समस्त पाशों का छेदन करता है, उस शिवदीक्षा को '**कर्तरी**' अथवा कैंची कहते हैं। उस शिवदीक्षारूप कर्तरी से शिष्य के समस्त बंधनों का छेदन करके उसे शिवलिंग धारण कराना चाहिये।।४२।।

कृत्वा शैवीं परां दीक्षां दत्त्वा विद्यां शिवात्मिकाम् ।
छित्वाऽविद्यामहापाशं कलाध्वानं विचिन्तयेत् ।।४३।।

तत्पश्चात् परमशैवदीक्षा देकर, शिवात्मिका विद्या का उपदेश करके और अविद्यारूपी पाशों का छेदन करके **'कलाध्वा'** का विचार करना चाहिए।।४३।।

यथा कला तथा भावो यथा भावस्तथा मनः ।
यथा मनस्तथा दृष्टिर्यथा दृष्टिस्तथा स्थलम् ।।४४।।

(क्योंकि) जैसी कला होती है वैसा ही भाव होना चाहिए, **भाव** के समान मन होना चाहिए, मन के समान **दृष्टि** होनी चाहिए तथा दृष्टि के अनुरूप स्थल होना चाहिए।।४४।।

सा कला परमा सूक्ष्मा तत्त्वानां बोधिनी परा ।
तामाकृष्य यथान्यायं लिङ्गे समुपवेशयेत् ।।४५।।

वह कला परमसूक्ष्म तत्त्व है, तथापि तत्त्व का बोध करानेवाली है। उस कला को आकर्षित करके लिंगस्थान में स्थापित करना चाहिए।।४५।।

सा बाह्याभ्यन्तरं साक्षाल्लिङ्गं ज्योतिः परं स्वकम् ।
तिले तैलमिवाभाति ह्यरण्यामिव पावकः ।।४६।।

क्षीरे सर्पिरिव स्रोतस्यम्बुवत् स्थितमात्मनि ।
तद्भावलक्षणां भक्तिं सुसूक्ष्मां परमामपि ।।४७।।
दर्शयामास शिष्यस्य देशिकः परमेश्वरः ।

तिलों में तेल, अरणि में अग्नि, दुग्ध में घृत और प्रवाह में जल जैसे तत्तत् पदार्थों को अन्तः एवं बाह्य रूप से व्याप्त करके अवस्थित रहता है, उसी प्रकार वह परमज्योतिस्वरूप कला परमात्मरूप शिवलिंग में अन्तर्बाह्य व्याप्त है। इस प्रकार अपारमहिमामंडित कलाध्वा का चिन्तन करके वह परमकारुणिक गुरु उस शिष्य को परलिंग में अवस्थित कलात्मिका अतिसूक्ष्म एवं उत्तम भक्ति का बोध कराता है ।।४६-४७।।

तस्मिन् दृष्टे परे लिङ्गे निष्कले निरुपाधिके ।।४८।।

अस्य जीवस्य कर्माणि क्षीयन्ते सकलानि हि ।
अविद्याहृदयग्रन्थिर्भिद्यते शतधाऽपि च ।।४९।।

संशया बहुसंकल्पाश्छिद्यन्ते च सहस्रधा ।

अग्रिम विवरण नितान्त श्रुत्यनुमोदित है। गुरु के उपदेश एवं श्रुतिवाक्य से उस कारणकार्यरूप शिवलिंग का साक्षात्कार होने पर साधक की हृदयग्रन्थि (अहंकार) खुल जाती है, सम्पूर्ण संदेह अपगत हो जाते हैं और संचित-क्रियमाण कर्म नष्ट हो जाते हैं। ग्रन्थकार मायिदेव ने अधोलिखित विवरण को मुण्डकश्रुति से स्पष्ट किया है —

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।। (२.२.८)

उस निष्कल उपाधिरहित परलिंग का दर्शन होने पर उस जीव के समस्त कर्मों का लय हो जाता है, अविद्यारूपी हृदयग्रन्थि का अपनोदन हो जाता है एवं उसके अनेक संशय भी नष्ट हो जाते है।।४८-४९।।

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।।५०।।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ।

आत्मवित् महर्षियों ने श्रेष्ठ हिरण्मय कोश में निर्मल, निष्कल, शुभ्र एवं चन्द्रसूर्यादि ज्योतियों को प्रकाशित करनेवाला जो तत्त्व है, उसे ब्रह्मात्मलिंग कहा है ।।५०।।

ततस्तल्लिङ्गमस्याङ्गे शिष्यस्यामिततेजसः ।।५१।।
गुरुः संयोजयामास पूर्वोक्तेनैव वर्त्मना ।

पूर्वोक्त विशेषणों से विशिष्ट परलिंग को वह आचार्य अमित तेजस्वी शिष्य के अंग में पूर्व में वर्णित शैवदीक्षा के द्वारा संयोजित करता है।।५१।।

तनुत्रयगतानादिमलत्रयमसौ गुरुः ।।५२।।
दीक्षात्रयेण निर्दग्ध्वा लिङ्गत्रयमुपादिशत् ।

उस अपूर्व लिंगसंयोजन से, स्थूल-सूक्ष्म-कारणात्मक त्यागांग, भोगांग और योगांग शरीर के तीन प्रकार के मलों का वह गुरु क्रिया, मन्त्र और वेधा इन तीन दीक्षाओं द्वारा दहन अर्थात् नष्ट करके उस अमित तेजस्वी शिष्य को लिंगत्रय — इष्टलिंग, प्राणलिंग और भावलिंग का उपदेश करता है।।५२।।

आगमप्रमाण के द्वारा मलत्रय के दहनरूप कार्य में क्रिया-मन्त्र-वेधात्मक शिवदीक्षा की असाधारण करणता स्पष्ट कर रहे हैं —

यथा पुरत्रयं दग्धं युगपत् पुरवैरिणा ।।५३।।
तथा मलत्रयं दग्धं युगपद् देशिकात्मना ।

जैसे देवाधिदेव शंकर ने त्रिपुर को, अर्थात् तीन पुरों को जला दिया था, उसी प्रकार वह देशिकाचार्य गुरु शिष्य के तीन प्रकार के पापों को नष्ट कर देता है।।५३।।

वेधामनुक्रियाकारा दीक्षा शैवी शिखा मता ।।५४।।
तच्छिखा लिङ्गमित्युक्तं कर्ममायाणुवासनाः ।
रूपं कर्पूरमाख्यातं तद्गन्धोऽङ्गमितीरितम् ।।५५।।

वेधा, मन्त्र एवं क्रियात्मक जो शैवी दीक्षा है, उसे **'शिखा'** कहते हैं। उस शिखा को लिंग और **'कर्मवासना, मायावासना एवं अणुवासना'** इस वासनात्रयरूप को कर्पूर (कपूर) कहा जाता है। उस कर्पूर की गन्ध को अंग (जीव) कहते हैं।।५४-५५।।

एतल्लिङ्गाङ्गसंयोगः शिखिकर्पूरयोगवत् ।
त्रिष्वङ्गेष्वस्य शिष्यस्य लिङ्गत्रयमयं गुरुः ।।५६।।
संयुयोज त्रिधाभूतपरादीक्षाबलेन तु ।

अग्नि और कर्पूर के संयोग के समान ही यह लिंगांगसंयोग है, क्योंकि अग्नि का कपूर से संयोग होने पर जैसे कपूर का स्वरूप और गन्ध लुप्त होकर अग्नि में विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार लिंग और अंग का संयोग होने पर वासनात्रयविशिष्ट अंगस्वरूप और जीवभाव भी लुप्त होकर जीवगत परब्रह्मांश लिंग के साथ संयोजित होता है। इसे ही लिंगांगसंयोग कहते हैं। गुरु के द्वारा शिष्य के तीन अंगों में इन तीन लिंगों का तीन प्रकार की दीक्षा के प्रभाव से समायोजन किया जाता है।।५६।।

अधुना ग्रन्थकार तीन लिंगों की समायोजन-पद्धति को दिखा रहे हैं —

योगाङ्गे भावलिङ्गं तु वेधादीक्षाबलेन वै ।।५७।।
मन्त्रदीक्षाबलेनैव भोगाङ्गे प्राणलिङ्गकम् ।
क्रियादीक्षाबलेनायं देशिकस्तस्य चिद्घनम् ।।५८।।
इष्टलिङ्गं तथा चैव त्यागाङ्गे समयोजयत् ।

वह करुणालय गुरु शिष्य के शरीर में वेधात्मक दीक्षा के बल से योगांग अर्थात् कारणशरीर में भावलिंग, मन्त्र-दीक्षा के सामर्थ्य से भोगांग (सूक्ष्मशरीर) स्थान में प्राणलिंग तथा क्रियात्मक दीक्षा के प्रभाव से त्यागांग (स्थूलशरीर) में चिद्रूप इष्टलिंग का समायोजन करता है।।५७-५८।।

योगाङ्गमात्मनोऽङ्गत्वात् कारणाङ्गमितीरितम् ।।५९।।
भोगाङ्गमन्तरङ्गत्वात् सूक्ष्माङ्गमिति निश्चितम् ।
त्यागाङ्गबहिरङ्गत्वात् स्थूलाङ्गमिति कीर्तितम् ।।६०।।

योगांग जीव का अंग होने से उसे **'कारणांग'** कहा जाता है, भोगांग अन्तरंग होने के कारण **'सूक्ष्मांग'** पद से व्यवहृत होता है तथा बहिरंग होने से त्यागांग को **'स्थूलांग'** शब्द से कहा जाता है।।५९-६०।।

जीवात्मा विश्व एव स्यादन्तरात्मा तु तैजसम् ।
परमात्मा भवेत् प्राज्ञ इति तत्त्वविदो विदुः ।।६१।।

तत्त्वज्ञ आचार्य व्यष्टि अभिमानी स्थूलशरीरात्मक जीवात्मा को **'विश्व'**, व्यष्टि अभिमानी सूक्ष्मशरीरात्मक अन्तरात्मा को **'तैजस'** और व्यष्टि अभिमानी कारणशरीरात्मक परमात्मा को **'प्राज्ञ'** कहते हैं।।६१।।

विश्वो जाग्रदवस्थायां स्वप्नाख्यायां तु तैजसः ।
प्राज्ञः सुषुप्त्यवस्थायां लिङ्गत्रयमुपासते ।।६२।।

'विश्व' नामक जीवात्मा जाग्रदवस्था में इष्टलिंग की उपासना, **'तैजस'** स्वप्नावस्था में प्राणलिंग की उपासना तथा **'प्राज्ञ'** निद्रावस्था में भावलिंग की उपासना करता है ।।६२।।

प्रकृत प्रसंग में अधोलिखित श्रुतियों का अनुसंधान करना चाहिए —

१. जाग्रदवस्थावान् बाह्यविषयाणां प्रकाशकश्च वैश्वानर एव स्थूलविषयान् उपभुङ्क्ते (माण्डू० ३)
२. अयं तैजसः सूक्ष्मविषयाणां भोक्ता। प्रविविक्तभुक् तैजसः।
३. आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः।

एकोऽयं पुरुषो विश्वतैजसप्राज्ञरूपतः ।
सदा स्वाङ्गेषु संयुक्तमुपास्ते लिङ्गमद्वयम् ।।६३।।

एक ही पुरुष (जीव) विश्व, तैजस और प्राज्ञ इन तीन रूपों से सदा सर्वदा अपने तीन अंगों में गुरु द्वारा संयोजित परब्रह्मात्मक लिंग की उपासना करता है।।६३।।

उपासनैव संयोगः संयोगो द्वैतसंलयः ।
द्वैतस्य विलयश्चैव निवृत्तिः परिकीर्तिता ।।६४।।

निवृत्तिः सैव विश्रान्तिर्विश्रान्तिः परमं पदम् ।

उपासना संयोग है, संयोग ही द्वैत का लय है और द्वैत के लय को ही निवृत्ति कहते हैं। निवृत्ति विश्रान्ति है तथा विश्रान्ति ही परमपद है।।६४।।

स्फटिकस्वच्छयोर्दीपप्रभयोः करकाम्भसोः ।।६५।।

कर्पूरगन्धयोर्वायुनभसोर्भागयोगवत् ।
एवं लिङ्गाङ्गसंयोगविधिना स्वात्मनि स्थिता ।।६६।।

बीजरूपा परा भक्तिः प्ररोहति समन्ततः ।

स्फटिक और निर्मलता, दीपक और प्रकाश, करक अर्थात् बर्फ और पानी, कपूर व सुगन्ध तथा वायु और आकाश इन पदार्थों में परस्पर शाब्दिक भेद आपाततः प्रतीत होता है, वस्तुतः इनमें परस्पर जैसा संयोग है उसी प्रकार लिंगांगसंयोग से 'आत्मा' स्थानीय बीजरूप से अवस्थित '**भक्ति**' की वृद्धि होती है।।६५-६६।।

आत्मा क्षेत्रं भवेद् भक्तिर्बीजं बीजी महेश्वरः ।।६७।।

तस्मात् क्षेत्रस्य बीजस्य बीजिनश्च कदाचन ।
वियोगो नेक्ष्यते क्वापि सदा संयोग एव हि ।।६८।।

जीव क्षेत्रभूमि है, '**बीज**' भक्ति है तथा महेश्वर '**बीजी**' अर्थात् उत्पादक है, तब ऐसी स्थिति में क्षेत्र, बीज एवं बीजी इनका वियोग कदापि न होते हुए सदा सर्वदा संयोग ही परिलक्षित होता है।।६७-६८।।

अङ्गमात्मेति निर्णीतं लिङ्गं ब्रह्मेति निश्चितम् ।
अङ्गस्य हृदयं लिङ्गं लिङ्गस्य हृदयं तु तत् ।।६९।।

तयोः कथं वियोगः स्यात् सदा संयोग एव हि ।

जीव '**अंग**' है तथा लिंग '**ब्रह्म**' है। अंग अर्थात् जीव का हृदय लिंग है, लिंग का हृदय अंग है। ऐसी अवस्था में लिंगांग का वियोग कैसे संभव होगा? अर्थात् सदा सर्वदा संयोग ही रहता है।।६९।।

योगेन तु परा भक्तिरिति भक्तेस्तु वैभवम् ।।७०।।
अस्याः स्वरूपसद्भावात् सद्भक्तिरिति कीर्तिता ।

योग से परा भक्ति प्राप्त होती है और भक्ति से वैभव प्राप्त होता है। इस भक्ति का स्वरूप **'सत्यात्मक'** है। इस हेतु इसे **'सद्भक्ति'** कहते हैं।।७०।।

तद्भक्त्यैव तथा चास्य भक्तस्थलमुपागतम् ।।७१।।
आचारलिङ्गसंयुक्तमङ्गं भक्तस्थलं महत् ।

उस सद्भक्ति का सम्बन्ध होने से जीवात्मा को भक्तस्थल की प्राप्ति होती है और आचारलिंग से संयुक्त हुए अंगस्थल को श्रेष्ठ **भक्तस्थल** कहा जाता है ।।७१।।

तत्र स्थिता सती भक्तिः सम्पूर्णा निजनिष्ठया ।।७२।।
नैष्ठिकी भक्तिरित्येव कीर्तिता भक्तितत्परैः ।
तया माहेश्वरं नाम स्थलमस्य स्वरूपतः ।।७३।।

भक्तस्थल में वर्तमान सद्भक्ति निष्ठा से पूर्ण रहती है। इस हेतु भक्तिपरायण आचार्य इसे **नैष्ठिकी भक्ति** कहते हैं और इस नैष्ठिकी भक्ति से जीवात्मा को स्वरूपतः **माहेश्वरस्थल** की प्राप्ति होती है।।७२-७३।।

गुरुलिङ्गसमायुक्तमङ्गं माहेश्वरस्थलम् ।
तत्र संनिहिता भक्तिर्नैष्ठिकी सावधानतः ।।७४।।
अवधानात्मिका भक्तिरिति प्रोक्ता महात्मभिः ।

माहेश्वर अंगस्थल गुरुलिंगस्थल से संयुक्त रहता है, अवधानपूर्वक उस स्थान में उपस्थित **नैष्ठिकी भक्ति** को शैव महात्मा **अवधानात्मिका** भक्ति कहते हैं।।७४।।

भक्त्या तयाऽस्य जीवस्य प्रसादिस्थलमागतम् ।।७५।।
शिवलिङ्गसमायुक्तं प्रसादिस्थलमागतम् ।

उस अवधानात्मिका भक्ति से जीवात्मा को प्रसादिस्थल की प्राप्ति होती है तथा यह प्रसादिस्थल शिवलिंग से संयुक्त रहता है।।७५।।

तत्रैव सुस्थिता भक्तिरवधानात्मिका शुभा ।।७६।।
स्वानुभूतिनिबन्धेन कीर्तिताऽनुभवात्मिका ।

प्रसादिस्थल में सुस्थिर अवधानात्मिका भक्ति को स्वानुभव-सम्बन्ध से अनुभवात्मक भक्ति कहा जाता है।।७६।।

प्राणलिङ्गिस्थलं चास्य तया भक्त्या समागतम् ।।७७।।

अङ्गं च चरलिङ्गेन संयुक्तं प्राणलिङ्गि यत् ।
तत्र स्वानुभवाकारा भक्तिरानन्दयोगतः ।।७८।।

प्रोक्ताऽऽनन्दात्मिका भक्तिरिति वेदान्तवेदिभिः ।

पूर्वोक्त अनुभवात्मिका भक्ति से जीवात्मा को **'प्राणलिंगिस्थल'** की प्राप्ति होती है। वह प्राणलिंगी नामक अंगस्थल **'चरलिंग'** से युक्त होता है। उस प्राणलिंगिस्थल में रहनेवाली अनुभवात्मिका भक्ति को वेदान्तवित् आचार्य आनन्द से सम्बन्ध होने से 'आनन्दात्मिका भक्ति' कहते हैं।।७७-७८।।

अस्यात्मनस्तया भक्त्या शरणस्थलमागतम् ।।७९।।

प्रसादलिङ्गसंयुक्तमङ्गं हि शरणस्थलम् ।
तत्र प्रतिष्ठिता साक्षाद् भक्तिरानन्दरूपिणी ।।८०।।

उस आनन्दात्मिका भक्ति के द्वारा जीव को **'शरणस्थल'** की प्राप्ति होती है। यह शरणस्थल प्रसादिलिंग से संयुक्त रहता है तथा शरणस्थल में अवस्थित भक्ति को 'आनन्दात्मिका भक्ति' कहते हैं।।७९-८०।।

सामरस्यप्रभावेण प्रोक्ता समरसात्मिका ।
ऐक्यस्थलं तया चास्य चेतनस्य समागतम् ।।८१।।

महालिङ्गसमायुक्तमङ्गमैक्यस्थलं परम् ।
तत्रैवावस्थिता भक्तिः स्वस्मिन् स्वयमवस्थिता ।।८२।।

सामरस्य के प्रभाव से आनन्दात्मिक भक्ति को **'समरस भक्ति'** कहते हैं। समरस भक्ति से जीव को ऐक्यस्थल की प्राप्ति होती है। वह परम ऐक्य नामक अंगस्थल महालिंग से युक्त रहता है तथा ऐक्यस्थल में समरसात्मक भक्ति स्वस्वरूप से ही अवस्थित रहती है।।८१-८२।।

षडङ्गयोगमार्गेण साधयत्ययमीश्वरम् ।
युगपत् षट्स्थलावाप्तिः साधकस्यास्य सिद्ध्यति ।।८३।।

यह जीव छः अंगस्थलों के योगमार्ग से ईश्वररूप साध्य की प्राप्ति करता है। साधक रूप जीव को भी फलस्वरूप छः स्थलों की युगपत् प्राप्ति होती है।।८३।।

साध्यत्वात् षट् प्रपद्यन्त आचारादिस्थलानि वै ।
भक्त्यादीनि प्रपद्यन्ते साधकत्वात् स्थलानि वै ।।८४।।

साध्यः परशिवः साक्षादाचारादिषु षट्सु च ।
भक्त्यादिषु स्थलेष्वात्मा साधकोऽयं प्रकीर्त्यते ।।८५।।

आचारादि छः लिंगस्थल साध्य हैं तथा **भक्तस्थलादि** छः अंगस्थल साधक हैं, क्योंकि आचारादि छः लिंगस्थलों में साक्षात् शिव ही साध्य है और भक्तादि छः अंगस्थलों में जीव साधक है।।८४-८५।।

आचारलिङ्गं गुरुरूपलिङ्गं
शिवाख्यलिङ्गं चरनामलिङ्गम् ।
प्रसादलिङ्गं च महात्मलिङ्गं
निवृत्तिमार्गेण षडाहुरार्याः ।।८६।।

शैवाचार्यों का कथन है कि आचारलिंग, गुरुलिंग, शिवलिंग, चरलिंग, प्रसादलिंग और महालिंग ये छः लिंगस्थल निवृत्तिमार्ग के हैं।।८६।।

भक्तं माहेश्वरं चैव प्रसादि प्राणलिङ्गि च ।
शरणस्थलमैक्यं हि निवृत्तिलयमार्गतः ।।८७।।

उसी प्रकार भक्तस्थल, माहेश्वरस्थल, प्रसादिस्थल, प्राणलिंगिस्थल, शरणस्थल और ऐक्यस्थल ये छः स्थल निवृत्तिमार्ग के हैं।।८७।।

ब्रह्मा हरिश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ।
साक्षात् परशिवश्चेति क्रमशः षट्स्थलात्मकाः ।।८८।।

तथा ब्रह्मा, हरि, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव और साक्षात् परशिव ये क्रम से **षट्स्थलात्मक** हैं।।८८।।

एवं लिङ्गाङ्गसंयोगविधिरत्र प्रकीर्तितः ।
अस्माभिरादरेणैव शिवप्रोक्तो यथा तथा ।।८९।।

एतद्यो वेद सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरति प्रभुः ।
शिवसिद्धान्तकं तन्त्रे शिवाद्वैतं शिवं पदम् ।।९०।।

इति श्रीवातुलोत्तरतन्त्रे शिवानुभवसूत्रे षट्स्थलनिर्णये लिङ्गाङ्गसंयोगविधिर्नाम पञ्चमाधिकरणं सम्पूर्णम्।।

शिव द्वारा पार्वती को जैसा कथन किया गया, वैसा ही हमने आदरपूर्वक लिंगांगसंयोगविधि को प्रकृत प्रसंग में प्रस्तुत किया है। शिवाद्वैतप्रतिपादक एवं मोक्षदायक इस सिद्धान्त को जो जानता है, वह समर्थ साधक अपने अज्ञान-बन्धन का विच्छेद कर देता है।।८९-९०।।

इस प्रकार वातुलागम के उत्तरतन्त्र के शिवानुभवसूत्रोक्त षट्स्थलनिर्णयान्तर्गत लिंगांगसंयोगविधि नाम का पंचम अधिकरण सम्पूर्ण हुआ।।५।।

इत्यनुभवसूत्रे वैदिकतिलकमीमांसाभूषणपण्डित-
गजाननसदाशिवमुसलगाँवकरशास्त्रिणा कृते
किरणाख्यानुवादे लिङ्गस्थलनिरूपणं नाम
पञ्चमाधिकरणं समाप्तिमगमत्।।

षष्ठाधिकरणे सर्वाङ्गलिङ्गसाहित्यम्

अथ श्रीशम्भुना प्रोक्तमनन्तार्थप्रकाशकम् ।
सर्वाङ्गलिङ्गसाहित्यं वक्ष्ये संक्षेपरूपतः ।।१।।

लिंगांगसंयोगविधि का विवरण देने के उपरान्त श्रीपरमेश्वर महादेव के द्वारा पार्वती को कहे गये विपुल अर्थ के प्रकाशक **सर्वांगलिंगसाहित्य** का संक्षेप से कथन कर रहा हूँ।।१।।

सर्वेष्वङ्गेषु सर्वत्र सर्वदा सर्वतोमुखम् ।
लिङ्गं गुरूपदेशेन सुप्रतिष्ठितमात्मनि ।।२।।

जीवात्मा अर्थात् शिष्य के समस्त अंगों में अनेकानेक रूपोंवाला लिंग गुरु के उपदेश से स्थापित है ।।२।।

प्रकाशते ततोऽमुष्य चेतनस्य निरन्तरम् ।
सर्वाङ्गलिङ्गसाहित्यं प्रोच्यते लिङ्गतत्परैः ।।३।।

इस हेतु जीवात्मा के समस्त अंगों में लिंग है, ऐसा लिंगस्वरूप को जानने वाले आचार्य कहते हैं।।३।।

एकमेव परं लिङ्गमङ्गेऽस्मिन् सुप्रतिष्ठितम् ।
सर्वतोमुखमाभाति नामरूपक्रियात्मना ।।४।।

ज़ीव के शरीर में एक ही लिंग प्रतिष्ठित रहता है, किन्तु नाम, रूप और क्रिया के सम्बन्ध से वह अनेक रूपों में प्रकाशित होता है ।।४।।

इष्टलिङ्गं तु बाह्याङ्गे प्राणलिङ्गं तथान्तरे ।
भावलिङ्गं तथैवास्मिन्नात्माङ्गे सुप्रतिष्ठितम् ।।५।।

बाह्यांग में 'इष्टलिंग' है, **अन्तरंग** में 'प्राणलिंग' और **आत्मांग** (कारण शरीर) में 'भावलिंग' स्थापित है।।५।।

हृदयाङ्गे महालिङ्गं श्रोत्राङ्गे तु प्रसादकम् ।
त्वगङ्गे चरलिङ्गं तु दृगङ्गे शिवलिङ्गकम् ।।६।।

हृदय नामक अंग में महालिंग है, **श्रोत्र** नामक अंग में प्रसादलिंग है, **त्वक्** रूप अंग में चरलिंग है और **नेत्र** रूप अंग में शिवलिंग है ।।६।।

जिह्वाङ्गे गुरुलिङ्गं तु नासिकाङ्गं तथैव च ।
आचारलिङ्गमश्रान्तं सुप्रतिष्ठितमेव हि ।।७।।

जिह्वांग में गुरुलिंग है और **नासिका** नामक अंग में सर्वदा आचारलिंग संस्थापित है।।७।।

यथा ज्ञानेन्द्रियाङ्गेषु क्रमाल्लिङ्गं प्रतिष्ठितम् ।
तथा कर्मेन्द्रियाङ्गेषु क्रमाल्लिङ्गं प्रतिष्ठितम् ।।८।।

ज्ञानेन्द्रियादि स्थानों में क्रम से जैसे लिंगों की प्रतिष्ठा है, उसी प्रकार कर्मेन्द्रियादि स्थानों में क्रम से लिंगों की प्रतिष्ठा है।।८।।

अधुना ग्रन्थकार कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रियों के विषयों के आधार पर ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रियों की एकता का प्रतिपादन कर रहे हैं —

श्रोत्रवाचोर्न भेदोऽस्ति शब्दस्य वचनस्य च ।
स्पर्शनादानयोस्तद्वद् भेदो नहि करत्वचोः ।।९।।

कर्णेन्द्रिय का विषय **'शब्द'** है और वागिन्द्रिय का विषय **'वचन'** है। जैसे शब्द और वचन में अभेद है, वैसे ही कर्णेन्द्रिय एवं वागिन्द्रिय में अभेद है। त्वगिन्द्रिय का विषय **'स्पर्श'** है और हस्तेन्द्रिय का विषय **'आदान'** है। विषयों का अभेद होने से त्वगिन्द्रिय एवं हस्तेन्द्रिय में भी अभेद है।।९।।

न नेत्रपादयोर्भेदो रूपस्य गमनस्य च ।
भेदो नानन्दरसयोर्न जिह्वागुह्ययोस्तथा ।।१०।।

चक्षुरिन्द्रिय नामक ज्ञानेन्द्रिय का विषय **'रूप'** एवं पादरूप कर्मेन्द्रिय का विषय **'गमन'** है। रूप एवं गमन में भेद न होने से चक्षुरिन्द्रिय एवं पादेन्द्रिय में अभेद रहता है। गुह्येन्द्रिय अर्थात् उपस्थ नामक जननेन्द्रिय का विषय **'आनन्द'** एवं जिह्वानामक ज्ञानेन्द्रिय का विषय **'रस'** है। इस हेतु "रसो वै सः" नामक श्रुति से प्रतिपादित आनन्द एवं रस के अभेद से गुह्येन्द्रिय और रसनेन्द्रिय में अभेद रहता है।।१०।।

नासिकागुदयोर्भेदो नास्ति गन्धविसर्गयोः ।
अस्ति चेदप्रमाणं स्याच्छ्रुतिः सत्यार्थवादिनी ।।११।।

घ्राणेन्द्रिय का विषय **'गन्ध'** है और गुदेन्द्रिय का विषय **'मलोत्सर्ग'** है, विषयों में भेद न होने से नासिका और गुदेन्द्रिय में अभेद रहता है। यदि विषय और इन्द्रियों में भेदबुद्धि रहती है, तो श्रुति की सत्यता में अप्रमाण का प्रसंग उपस्थित होगा।।११।।

श्रोत्रस्य वाचः शब्दस्य विभोर्व्योम्नस्तथैव च ।
ईश्वरीमीश्वरस्यैनामीशानाख्यां विदुर्बुधाः ।।१२।।

परमेश्वर की **ईशानमूर्ति**[1] श्रोत्रेन्द्रिय, वागिन्द्रिय, शब्द और आकाश की अधिष्ठान देवता है।।१२।।

त्वक्पाणिस्पर्शवायूनामीश्वरीं मूर्तिमैश्वरीम् ।
पुरुषाख्यां विदुः पूर्वे पुराणागमवेदिनः ।।१३।।

परमेश्वर की **तत्पुरुषमूर्ति**[2] त्वक्, पाणि, स्पर्श, वायु इनकी अधिष्ठान देवता है। ऐसा आगमवित् आचार्य मानते हैं।।१३।।

चक्षुषश्चरणस्यापि रूपस्याग्नेस्तथैव च ।
अघोराख्यामधिष्ठात्रीं मूर्तिमाहुर्मनीषिणः ।।१४।।

चक्षु, चरण, रूप और अग्नि, इनकी अधिष्ठाता देवता परमेश्वर की **अघोरमूर्ति**[3] है।।१४।।

---

१. वातुलशुद्धागम के ब्रह्मभेद पटल में ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात मूर्तियों का स्वरूप अधोलिखित बताया गया है —
ईशानमूर्ति — ईशानं स्फटिकाभं स्याज्जटामुकुटमण्डितम् । चतुर्वक्त्रसमायुक्तं द्वादशाक्षिसमन्वितम् ।। चतुर्भुजसमायुक्तं सर्वलक्षणसंयुतम् । शुक्लाम्बरधरं सौम्यं शुक्लवस्त्रोत्तरीयकम् ।। टङ्कशूलसमायुक्तं वरदाभयसंयुतम् । सर्वावयवसंयुक्तं सर्वाभरणभूषितम् ।। दिव्यगन्धानुलिप्ताङ्गं दिव्यपुष्पैरलङ्कृतम् । ध्यायेदीशानरूपं तु सद्यो मोक्षप्रदायकम् ।।(७.६०-६३)

२. **तत्पुरुष** — पुरुषं कुङ्कुमाभं स्याच्चतुर्वक्त्रं चतुर्भुजम्। जटामुकुटसंयुक्तं नेत्रैर्द्वादशभिर्युतम् ।। सर्वावयवसंयुक्तं पीताम्बरधरं परम् । पीतवस्त्रोत्तरीयं च सर्वाभरणभूषितम् । सव्ये तु टङ्कमभयं शूलं वरदमन्यके। दिव्यगन्धानुलिप्ताङ्गं दिव्यपुष्पैरलङ्कृतम् । एवं तत्पुरुषं विद्यात् सर्वसिद्धिप्रदायकम्।। (७.५६-५९)

३. **अघोर** — भिन्नाञ्जनसमप्रख्यमघोरं रौद्ररूपकम् । चतुर्वक्त्रं चतुर्बाहुं जटामुकुटमण्डितम् ।। द्वादशाक्षिसमायुक्तं दंष्ट्राकरालमास्यकम् ।व्याघ्रचर्माम्बरधरं व्याघ्रचर्मोत्तरीयकम् ।। पादनूपुरसंयुक्तं सर्वाभरणभूषितम्। दिव्यगन्धानुलिप्ताङ्गं दिव्यपुष्पैरलङ्कृतम् ।। टङ्कशूलसमायुक्तं वरदाभयसंयुतम् । सर्वावयवसंयुक्तं सर्वलक्षणसंयुतम् ।। सर्वसम्पत्प्रदातारं समस्तदुरितापहम् ।।(७.५१-५४)

रसनाया उपस्थस्य रसस्यापां तथैव च ।
ईश्वरीं वामदेवाख्यां मूर्तिं मुनिवरा विदुः।।१५।।

शैवमुनि, 'रसनेन्द्रिय, उपस्थ, रस और जल' की अधिष्ठान देवता परमेश्वर की **वामदेवमूर्ति**[१] को मानते हैं।।१५।।

घ्राणस्य चैव पायोश्च गन्धस्य च भुवस्तथा ।
सद्योजाताहवयां मूर्तिमीश्वरीं संप्रचक्षते ।।१६।।

घ्राण, गुदा, गन्ध और भूमि इनकी अधिष्ठाता देवता परमेश्वर की **'सद्योजातमूर्ति'**[२] है।।१६।।

ज्ञानकर्मात्मनां खानामाश्रयं हृदयं भवेत् ।
आश्रयत्वात् स्वनैर्मल्याज्ज्ञानकर्मोभयात्मकम् ।।१७।।

ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रियों का आश्रयस्थान **'मन'** है। यह मन समस्त इन्द्रियों का आश्रयस्थान होने से एवं स्वतः निर्मल होने के कारण ज्ञानकर्मात्मक अर्थात् ज्ञान और कर्म उभयात्मक है।।१७।।

इन्द्रियाणां तु सर्वेषामवकाशप्रदत्वतः ।
हृदयाकाश इत्येतत्प्रोच्यते मतिमत्तमैः ।।१८।।

समस्त इन्द्रियों को अवकाश प्रदान करनेवाला मन अर्थात् हृदय ही है। इस हेतु विद्वान् उसे 'हृदयाकाश' कहते हैं।।१८।।

स्थूलाङ्गे स्थूलरूपेण सूक्ष्माङ्गे सूक्ष्मरूपतः ।
कारणे कारणत्वेन तिष्ठन्त्येतानि खानिहि ।।१९।।

---

१. **वामदेव** — जपापुष्पनिभं वामं जटामुकुटमण्डितम् । चतुर्वक्त्रसमायुक्तं चतुर्भुजसमन्वितम् ।। नेत्रैर्द्वादशभिर्युक्तं सर्वावयवसंयुतम् । रक्तवस्त्रधरं देवं रक्तवस्त्रोत्तरीयकम् ।। दक्षहस्तद्वयेनैवाभयं टङ्कं दधानकम् । दधानं वरदं शूलं वामहस्तद्वयेन च ।। रक्तगन्धानुलिप्ताङ्गं रक्तमाल्यैरलङ्कृतम् । सर्वलक्षणसंयुक्तं सर्वाभरणभूषितम् ।। वामदेवमिदं प्रोक्तं सर्ववश्यकरं परम् ।। (७.४५-४९)

२. **सद्योजात** — गोक्षीरशङ्खवर्णाभं जटामुकुटमण्डितम् । चतुर्वक्त्रं चतुर्बाहुं नेत्रद्वादशभिर्युतम् । सव्ये तु टङ्कशूले चाभयं वरमन्यके ।। शुक्लवस्त्रधरं चैव शुक्लवस्त्रोत्तरीयकम् । सर्वाभरणसंयुक्तमेवं सद्यमुदाहृतम् ।। (७.४२-४४)

पूर्वोक्त इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रियाँ) स्थूलांग (स्थूलशरीर) में स्थूलरूप से, सूक्ष्मांग (सूक्ष्मशरीर) में सूक्ष्मरूप से तथा कारणशरीर में कारणरूप से रहती हैं ।।१९।।

तेष्वेषु खेषु सर्वेषु लिङ्गं सत्यादिलक्षणम् ।
गुरूपदेशसंसिद्धं भासते सर्वतोमुखम् ।।२०।।

इन समस्त इन्द्रियों में गुरूपदेश से प्राप्त सर्वतोमुख सच्चिदानन्दात्मक लिंग भासित होता है।।२०।।

एतल्लिङ्गमुखं यत्र दृश्यते सूक्ष्मदर्शिभिः ।
यदामनन्ति वेदाश्च तपांसि नियमास्तथा ।।२१।।

तत्त्वज्ञ विद्वज्जन जिन इन्द्रियों में इस परलिंग मुख को देखते हैं, तथा वेद,तप और नियम भी उसी प्रकार बताते हैं।।२१।।

हृदयं हृदयस्येति श्रोत्रं श्रोत्रस्य सर्वदा ।
वाचो वाक्त्वक्त्वचः पाणिः पाणेश्चक्षुश्च चक्षुषः ।।२२।।

जैसे हृदय का मुख हृदय है, श्रोत्र का मुख श्रोत्र है, वाणी का मुख वाणी है, त्वगिन्द्रिय का मुख त्वचा है तथा हस्तेन्द्रिय का मुख हस्त और नेत्रेन्द्रिय का मुख नेत्र है।।२२।।

पादः पादस्य जिह्वाया जिह्वा गुह्यस्य गुह्यकम् ।
नासिका नासिकायाश्च पायोः पायुरिति स्थितिः ।।२३।।

पादेन्द्रिय का मुख पाद है, रसनेन्द्रिय का मुख रसना है, गुह्येन्द्रिय का मुख गुह्य अथवा उपस्थ है, घ्राणेन्द्रिय का मुख घ्राण है और गुदेन्द्रिय का मुख गुदा है।।२३।।

तल्लिङ्गमुखमित्याहुः शिवसिद्धान्ततान्त्रिकाः ।
प्रत्येकं लिङ्गमस्यैव मुखं वक्ष्ये पृथक् पृथक् ।।२४।।

उपर्युक्त मुख ही परलिंग के मुख हैं, ऐसा शिवसिद्धान्त तत्त्वज्ञ आचार्यों का मत है। अब प्रत्येक स्थान के अनुसार पृथक्-पृथक् मुखों का कथन करता हूँ ।।२४।।

घ्राणस्य घ्राणमाचारलिङ्गस्य मुखमुच्यते ।
जिह्वायाश्च तथा जिह्वा गुरुलिङ्गमुखं भवेत् ।।२५।।

घ्राणेन्द्रिय का घ्राण अर्थात् नासिकास्थान **'आचारलिंग'** का मुख है और रसनेन्द्रिय का रसनास्थान **'गुरुलिंग'** का मुख है।।२५।।

चक्षुषश्च तथा चक्षुः शिवलिङ्गमुखं भवेत् ।
त्वचस्त्वक्चररूपस्य लिङ्गस्य मुखमुच्यते ।।२६।।

नेत्रेन्द्रिय का नेत्रस्थान **'शिवलिंग'** का मुख है तथा त्वगिन्द्रिय का त्वक्स्थान **'चरलिंग'** का मुख है ।।२६।।

मुखं प्रसादलिङ्गस्य श्रोत्रं श्रोत्रस्य कथ्यते ।
हृदयं हृदयस्यैव महालिङ्गमुखं भवेत् ।।२७।।

कर्णेन्द्रिय का कर्णस्थान **'प्रसादलिंग'** का मुख है और हृदयेन्द्रिय का हृदयस्थान **'महालिंग'** का मुख है ।।२७।।

एवं लिङ्गमुखं प्रोक्तं सुप्रसिद्धमनन्तरम् ।
भक्तादिषट्स्थलानां च हस्तभेदः प्रदर्श्यते ।।२८।।

इस प्रकार उपर्युक्त श्लोकों में शैवशास्त्रों में प्रसिद्ध लिंग-मुखों का वर्णन किया गया है। अब भक्तस्थलादि षट्स्थलों के हस्तप्रकारों का कथन किया जा रहा है ।।२८।।

वस्तुनो भाव उत्पन्नो भावाज्ज्ञानसमुद्भवः ।
ज्ञानान्मनः समुत्पन्नं मनसोऽहङ्कृतिस्तथा ।।२९।।

अहङ्कारात् ततो बुद्धिर्बुद्धेश्चित्तस्य संभवः ।
एतेषां लक्षणं वक्ष्ये भावादीनामनुक्रमात् ।।३०।।

वस्तु से **भाव** उत्पन्न होता है, भाव से **ज्ञान** उत्पन्न होता है, ज्ञान से **मन** की उत्पत्ति होती है तथा मन से **अहंकार** का आविर्भाव होता है। तत्पश्चात् अहंकार से **बुद्धि** और बुद्धि से **चित्त** की उत्पत्ति होती है। अब पूर्वोक्त इन भाव आदि षट्पदार्थों के लक्षणों क्रम से का कथन किया जायगा।।२९-३०।।

अस्तीत्यारभ्यते वस्तु तत्सत्ता भाव उच्यते ।
ज्ञानं जानाति तं नित्यं मनस्तन्मनुते सदा ।।३१।।

'अस्ति' इत्यादि व्यवहार का जो विषय होता है, उसे **'वस्तु'** अर्थात् पदार्थ कहा जाता है। उस वस्तु की जो सत्ता (अस्तित्व) है, उसे **भाव** कहते हैं। 'जानाति' इत्यादि व्यवहार के विषय को **ज्ञान** कहते हैं और जो सर्वदा संकल्पविकल्पात्मक मनन करता है, उसे मन कहते हैं ।।३१।।

अहं तदित्यहङ्कारो बुद्धिस्तन्निश्चिनोति हि ।
चित्तं स्थैर्यगुणेनैव तथैतद्वस्तुसाधकम् ।।३२।।

अहं, मैं इत्यादि अभिमान को अहंकार कहते हैं। बुद्धि निश्चयात्मिका अर्थात् निश्चय अथवा अध्यवसाय करनेवाली होती है। स्थिरभाव से किसी वस्तु का साधन जो करता है, उसे चित्त कहते हैं। तात्पर्य यह है कि स्थिरभाव से अनुसंधान करनेवाली वृत्ति को चित्त कहते हैं।।३२।।

चित्तं भक्तस्य हस्तः स्याद्बुद्धिर्माहेश्वरस्य च ।
प्रसादिनस्तथा हस्तो ह्यहङ्कार उदीर्यते ।।३३।।

भक्तस्थल का हस्त **'चित्त'** है और माहेश्वरस्थल का हस्त **'बुद्धि'** है तथा 'अहंकार' प्रसादिस्थल का **हस्त** है।।३३।।

मनो हस्तो भवत्येव महतः प्राणलिङ्गिनः ।
ज्ञानं हस्तो भवेदस्य शरणस्य महात्मनः ।।३४।।

'मन' प्राणलिंगिस्थल का **हस्त** है और 'ज्ञान' शरणस्थल का **हस्त** है।।३४।।

ऐक्यस्य भावो हस्तः स्यादेवमेवोत्तरोत्तरम् ।
आत्माङ्गं भावहस्तं स्यान्महालिङ्गार्चने रतम् ।।३५।।
ऐक्यस्थलमिति प्राहुः साक्षाद् वेदान्तपारगाः ।

'भाव' ऐक्यस्थल का हस्त है, ऐसा उत्तरोत्तर समझना चाहिए। वेदान्तशास्त्रज्ञ आचार्यों के अनुसार आत्मा जिसका अंग है, भाव जिसका हस्त है और जो महालिंग की उपासना में तत्पर है, एतादृश स्वरूपवाला **'ऐक्यस्थल'** है ।।३५।।

व्योमाङ्गं ज्ञानहस्तं स्यात् प्रसादार्चनतत्परम् ।।३६।।
शरणस्थलमित्याहुः शिवयोगपरायणाः ।

आकाश जिसका अंग है और जिसका ज्ञान हस्त है तथा जो प्रसादलिंग की उपासना में तत्पर रहता है, वह **'शरणस्थल'** कहलाता है।।३६।।

अनिलाङ्गं मनोहस्तं चरलिङ्गार्चने रतम् ।।३७।।
प्राणलिङ्गिस्थलं साक्षादित्याहुः शिवधार्मिकाः ।

वायु जिसका अंग है, मन जिसका हस्त है और जो चरलिंग के अर्चन में सक्त रहता है, शैवाचार्यों के मत में वह **'प्राणलिंगिस्थल'** का स्वरूप है।।३७।।

अनलाङ्गमहं हस्तं शिवलिङ्गार्चने रतम् ।।३८।।
प्रसादिस्थलमित्याहुराचार्याः शिवशास्त्रिणः ।

अग्नि जिसका अंग है, अहंकार जिसका हस्त है और जो शिवलिंग के अर्चन में तत्पर है, वह **'प्रसादिस्थल'** है।।३८।।

जलाङ्गं बुद्धिहस्तं च गुरुलिङ्गार्चने रतम् ।।३९।।
माहेश्वरस्थलं साक्षादिति प्राहुर्मनीषिणः ।

जल जिसका अंग है, बुद्धि जिसका हस्त है और जो गुरुलिंग के अर्चन में सदा सक्त रहता है, उसे विद्वान् **'माहेश्वरस्थल'** कहते हैं।।३९।।

भूम्यङ्गं चित्तहस्तं च सदाचारार्चने रतम् ।।४०।।
भक्तस्थलमिति प्राहुः शिवसिद्धान्तवेदिनः ।

भूमि जिसका अंग है, चित्त जिसका हस्त है,जो सदा आचारलिंग के अर्चन मैं रत रहता है, उसे शैवसिद्धान्त के मर्मज्ञ **'भक्तस्थल'** कहते हैं।।४०।।

एवमङ्गं च हस्तं च लिङ्गं च मुखमत्र च ।।४१।।
यथावदानुपूर्वेण प्रावोचमहमादरात् ।

इस प्रकार प्रत्येक स्थल के अंग, हस्त, लिंग और मुख का क्रम से मैंने भक्तिपूर्वक कथन किया है।।४१।।

ततः पञ्चाक्षरीविद्यासाहित्यमधुनोच्यते ।।४२।।

हस्तादि प्रकारों का वर्णन करने के पश्चात् पंचाक्षरी विद्या के साहित्य का वर्णन किया जा रहा है।।४२।।

पञ्चाक्षरी परा विद्या सतारा तु षडक्षरी ।
स्थूलसूक्ष्मादिभेदेन स्वयमेवाष्टधा स्थिता ।।४३।।

'नमः शिवाय' इत्यात्मक पाँच अक्षरों की 'परा' विद्या है। 'ॐ'कार से सम्बद्ध होने पर छः अक्षरोंवाली वह 'तारा' विद्या है। स्थूल एवं सूक्ष्म के भेद से वह पंचाक्षरी विद्या आठ प्रकार की होती है।।४३।।

शिवमन्त्राभिधा मन्त्रमातृका लिङ्गरूपिणी ।
शिवप्रदायिनी नित्यं सर्वाङ्गेषु प्रतिष्ठिता ।।४४।।

शिवमन्त्रात्मक वह पंचाक्षरी विद्या मन्त्रवर्णात्मक एवं लिंगरूप है, वह शिवसायुज्य को देनेवाली है और साधक के सर्वांगों में सुप्रतिष्ठित है।।४४।।

अङ्गं नमःपदमसौ शिव एव लिङ्गं
सम्बन्ध एष यदयेतिपदं तदुक्तम् ।
लिङ्गाङ्गसङ्गमपदत्रयबोधनार्थं
मन्त्रोऽयमेवमभिधास्यति मन्त्रराजः ।।४५।।

'नमः शिवाय' इस मन्त्र में 'नमः' पद अंग (जीव) बोधक है, 'शिव' पद लिंग का बोध कराता है और 'अय' पद से लिंगांगसम्बन्ध का ज्ञान होता है। **'लिंग', 'अंग'** और **'सम्बन्ध'** इन तीन पदों के सम्यग् बोधनार्थ यह मन्त्रराज इस प्रकार कथन कर रहा है।।४५।।

नमःपदं तत्खलु जीववाचि
शिवःपदं तत्परमात्मवाचि ।
अयेति तादात्म्यपदं तदेतद्
नमः शिवायेति जगाद मन्त्रः ।।४६।।

'नमः' पद का अर्थ जीव है, 'शिव' पद परमात्मा का वाचक है और 'अय' पद नमः और शिव अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा के तादात्म्य या तदात्मता को स्पष्ट करता है। इस हेतु 'नमः शिवाय' इस मन्त्र ने लिंग एवं अंग के तादात्म्य का कथन किया है।।४६।।

मूलाधारे नकाराख्या संस्थिता परमेश्वरी ।
अनाहते वकाराख्या सदा शैवी व्यवस्थिता ।।४७।।

विशुद्धौ तु यकाराख्या साक्षाद्विश्वेश्वरी स्थिता ।
आज्ञाचक्रे महादेवी ताराख्या समुपस्थिता ।।४८।।

मूलाधारचक्र में नकारनामक परमेश्वरी शक्ति का वास है और **अनाहतचक्र** में वकारनामक शैवी शक्ति स्थित है। **विशुद्धिचक्र** में यकारनाम की विश्वेश्वरी शक्ति है तथा **आज्ञाचक्र** में ताराकूप से महादेवी शक्ति है।।४७-४८।।

आचाराख्यं नकारः स्यान्मकारो गुरुलिङ्गकम् ।
शिकारः शिवलिङ्गं स्याद्वाकारश्चरलिङ्गकम् ।।४९।।

यकारः स्यात् प्रसादाख्यमोङ्कारो महदुच्यते ।

नकार **'आचारलिंग'** है, मकार **'गुरुलिंग'** है, शिकार **'शिवलिंग'** है, वकार **'चरलिंग'** है। यकार **'प्रसादलिंग'** है तथा ॐकार **'महालिंग'** है।।४९।।

षष्ठं ब्रह्म भवेत्तारं यकारः पञ्चमं भवेत् ।।५०।।

चतुर्थं तु वकारः स्याच्छिकारस्तु तृतीयकम् ।
द्वितीयं तु मकारः स्यान्नकारः प्रथमं भवेत् ।।५१।।

एवं षडक्षराण्येव ब्रह्मणि क्रमशो विदुः।

अधुना ग्रन्थकार 'ॐ नमः शिवाय' इत्यात्मक षडक्षरी विद्या के प्रत्येक अक्षर को ब्रह्मपरक बता रहे हैं— षष्ठस्थ **'ॐकार'**, पंचमस्थ **'यकार'**, चतुर्थस्थ **'वकार'**, तृतीयस्थ **'शिकार'**, द्वितीयस्थ **'मकार'** और प्रथम **'नकार'** ब्रह्म है। इस प्रकार उपर्युक्त छः अक्षरों को क्रम से परब्रह्म के बोधक समझना चाहिए ।।५०-५१।।

ॐकारः परिपूर्णत्वात् त्वचि सर्वत्र तिष्ठति ।।५२।।

नकारो रुधिरे स्थाति मकारो मांससञ्चये ।
शिकारो मेदसि स्थाति वाकारोऽस्थिषु तिष्ठति ।।५३।।

यकारः स्थाति मज्जायां शुक्ले स्थाति षडात्मकः ।

पूर्ण होने से ॐकार शरीरावच्छिन्न सम्पूर्ण **'त्वचा'** में रहता है, नकार **'रक्त'** में, मकार **'मांस'** में, शिकार **'मेद'** में, वाकार **'अस्थि'** में, यकार अस्थिसह **'मज्जा'** में और षडक्षरमन्त्र **'शुक्र'** में अवस्थित रहता है।।५२-५३।।

एवं षडक्षरमयं शिववन्मूर्तिषु स्थितम् ।।५४।।

देहं ममेति यो ध्यायेत् सोऽहमेव न संशयः ।

जो साधक अपने शरीर को षडक्षरात्मक एवं शिवमूर्तियों से व्याप्त समझता है, वह साधक शिवरूप ही हो जाता है, इसमें संशय नहीं।।५४।।

सर्वाङ्गलिङ्गसाहित्यमेवमेव मयोदितम् ।
शिवप्रणीतवाक्यार्थं सम्यग् वीक्ष्य समासतः ।।५५।।

इस प्रकार शिवप्रणीत वाक्यों का योग्य पद्धति से अर्थानुसंधान करते हुए संक्षेपतः सर्वांगलिंगसाहित्य का मेरे द्वारा कथन किया गया है।।५५।।

एतद्यो वेद सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरति प्रभुः।
शिवसिद्धान्तकं तन्त्रं शिवाद्वैतं शिवं पदम् ।।५६।।

इति श्रीवातुलोत्तरतन्त्रे शिवानुभवसूत्रे षट्स्थलनिर्णये सर्वाङ्गलिङ्गसाहित्यंनाम षष्ठाधिकरणं सम्पूर्णम्।।

शिवसायुज्य को देनेवाले एवं शक्तिविशिष्ट शिवाद्वैतप्रतिपादक वीरशैवसिद्धान्तभूत अनुभवसूत्र को जो मनुष्य जानता है, श्रेष्ठ साधक अज्ञान से मुक्त हो जाता है।।५६।।

इस प्रकार वातुलागम के उत्तरतन्त्र के शिवानुभवसूत्रोक्त षट्स्थलनिर्णयान्तर्गत सर्वांगलिंगसाहित्य नाम का षष्ठ अधिकरण सम्पूर्ण हुआ।।

इत्यनुभवसूत्रे वैदिकतिलकमीमांसाभूषणपण्डित-
गजाननसदाशिवमुसलगाँवकरशास्त्रिणा कृते
किरणाख्यानुवादे सर्वाङ्गलिङ्गसाहित्यं नाम
षष्ठाधिकरणं समाप्तिमगमत्।।

सप्तमाधिकरणेऽर्पणसद्भावः

अथ क्रियासु सर्वासु निर्लेपत्वाय चात्मनः ।
श्रीलिङ्गार्पणसद्भावमीश्वरोक्तं मनाग् ब्रुवे ।।१।।

सर्वांगलिंगसाहित्य का वर्णन करने के उपरान्त ईश्वरोक्त लिंगार्पणसद्भाव-विधि का संक्षेप से कथन करता हूँ, क्योंकि समस्त कर्मों को करते हुए यदि क्रियार्पण ईश्वरप्रीत्यर्थ हो, तो तत्-तत् कर्मों का लेप मनुष्य पर नहीं होता।।१।।

द्वेधा लिङ्गार्पणविधिः प्रोच्यते देशिकोत्तमैः ।
क्रियामतार्पणं किञ्चित् किञ्चिज्ज्ञानमतार्पणम् ।।२।।

श्रेष्ठ शिवाचार्यों के अनुसार लिंगार्पणसद्भाव दो प्रकार का है — प्रथम क्रियामार्ग द्वारा किया अर्पण **'क्रियार्पण'** एवं द्वितीय ज्ञानमार्ग से किया अर्पण **'ज्ञानार्पण'** कहलाता है।।२।।

यथाकालोचितैर्द्रव्यैर्यदृच्छासंभवैः स्वयम् ।
स्वोपभोगाय यत्कार्यं त्रिषु लिङ्गेषु सादरम् ।।३।।
तत्क्रियार्पणमित्याहुरर्पणैकविशारदाः ।

सद्भावार्पण जाननेवाले आचार्यों के अनुसार स्वयं के उपभोग हेतु यथाकालोचित एवं सहजरूप से उपलब्ध पदार्थों का भक्तिपुरस्सर **भावलिंग, प्राणलिंग** एवं **इष्टलिंग** को अर्पण करना **'क्रियार्पण'** कहा जाता है।।३।।

षट्सु लिङ्गेषु सर्वत्र सार्वकालकरूपतः ।।४।।

स्वयमागतवस्तूनि ज्ञात्वा तत्तन्मुखेषु च ।
अनिच्छाविधिना कार्यमेतज्ज्ञानार्पणं विदुः ।।५।।

सर्व ऋतुओं में एवं सर्वत्र उपलब्ध पदार्थों को स्वयं आया हुआ जानकर, एवं स्वयं उपभोग की इच्छारहित होकर महालिंग, प्रसादलिंग, चरलिंग, शिवलिंग, गुरुलिंग, आचारलिंग, इन छः लिंगों को तत्-तत् इन्द्रियमुख से अर्पण करना **'ज्ञानार्पण'** कहा जाता है।।४-५।।

क्रियार्पणं वदाम्यत्र साम्प्रतं द्रव्यशुद्धये ।
या या क्रिया विधातव्या प्रस्तुता जायते पुरा ।।६।।
तां तां कुर्यान्महादेवसमर्पणधिया सुधीः ।
शिवार्पितानि द्रव्याणि न बन्धाय न मुक्तये ।।७।।
साक्षाच्छिवप्रसादायैवेति शैवी परा स्थितिः ।

अब द्रव्यशुद्धिहेतु क्रियार्पणविधि का वर्णन कर रहे हैं। भक्त को जो-जो क्रिंया करना अभीष्ट हो, वह उन-उन क्रियाओं को परमेश्वर को अर्पण करने की बुद्धि से करे, क्योंकि परमेश्वर को समर्पित कर्म से बन्ध व मोक्ष प्राप्त नहीं होता, अपितु शिव का प्रसाद प्राप्त होता है, इस प्रकार वीरशैव की चिन्तन स्थिति है।।६-७।।

ततोऽर्पणविधानेऽत्र सूक्ष्मासूक्ष्मविभेदतः ।।८।।
विधीयते सदैवास्य स्वोपभोगाय चात्मनः ।

इस आत्मा के स्वयं के नित्य उपभोगहेतु स्थूल और सूक्ष्मभेद से दो प्रकार के अर्पण विधान का कथन किया गया है।।८।।

आत्मोपभोगजातानि द्रव्याणि त्रिविधानि हि ।।९।।
स्थूलाख्यं प्रविविक्ताख्यमानन्दाख्यमिति त्रिधा ।

आत्मोपभोगहेतु उत्पन्न हुए पदार्थ तीन प्रकार के हैं — प्रथम 'स्थूल', द्वितीय 'प्रविविक्त' और तृतीय 'आनन्द'।।९।।

स्थूलद्रव्यं भवेद् रूपं प्रविविक्तं रुचिर्भवेत् ।।१०।।
आनन्दस्तु भवेत् तृप्तिरेवमेव पृथक् क्रमात् ।

स्थूल द्रव्य 'रूप' होता है। 'रुचि' प्रविविक्त द्रव्य है और 'तृप्ति' आनन्द द्रव्य है ।।१०।।

बहिरङ्गार्पणे रूपमन्तरङ्गार्पणे रुचिः ।।११।।
आत्मसंगमयं साक्षादानन्द्रार्पणमुच्यते ।
आत्माङ्गार्पणमेवात्र तृप्तिरित्यभिधीयते ।।१२।।

रूपद्रव्य बहिरंग अर्थात् स्थूलशरीर को अर्पण करना चाहिए। रुचिद्रव्य अन्तरंग अर्थात् सूक्ष्मशरीर को अर्पण करना चाहिए। जीव और शिव के संयोगरूप आनन्दार्पण को **'आत्मांगार्पण'** कहते हैं और आनन्दार्पण को ही **'तृप्ति'** कहा जाता है ।।११-१२।।

रूपद्रव्यार्पको विश्व इष्टलिङ्गे स्वभावतः ।
रुचिद्रव्यार्पकः साक्षात् प्राणलिङ्गे तु तैजसः ।।१३।।
भावलिङ्गे सदा प्राज्ञ आनन्दार्पक उच्यते ।

प्रकृत प्रसंग में ग्रन्थकार अर्पणबुद्धि की वैधता को वेदान्तरीत्या पुष्ट कर रहे हैं — स्थूलशरीर से अवच्छिन्न व्यष्टि अभिमानी विश्वनामक जीव जाग्रत् अवस्था में इष्टलिंग को स्वाभाविक रूप से **'रूप द्रव्य'** का अर्पण करता है। सूक्ष्मशरीर से अवच्छिन्न व्यष्टि अभिमानी तैजसनामक जीव स्वप्न-अवस्था में प्राणलिंग को **'रुचि द्रव्य'** अर्पित करता है और कारणशरीर से अवच्छिन्न प्राज्ञनामक जीव सुषुप्ति-अवस्था में भावलिंग को नित्य आनन्दार्पण करता है।।१३।।

यद्रूपमर्पितं लिङ्गे तद्रूपं भोक्तुमर्हति ।।१४।।
रूपान्तरं न भोक्तव्यं भुक्तं चेत्तदनर्पितम् ।

जो द्रव्य जिस रूप में अथवा जिस अवस्था में लिंग को अर्पित हो, उन्हें उसी रूप अथवा अवस्था में भक्त को स्वोपभोग हेतु ग्रहण करना चाहिए। परमेश्वर को अनर्पित द्रव्य का सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह खाने पर पाप का कारण होता है।।१४।।

यथा भुक्तिक्रिया पुंसि क्रमेणानुप्रवर्तते ।।१५।।
सुप्रतिष्ठितलिङ्गस्य न यथा पूर्वभावना ।
तथा शिवप्रसादस्य पूर्वनाम न संस्मरेत् ।।१६।।

अर्पणभावना को पुनः अन्य युक्ति से पुष्ट करते है— जैसे किसी पदार्थ के उपभोग में भोक्ता तीन अवस्थाओं में आनन्द की प्राप्ति करता है — प्रथम उस पदार्थ के रूप से भोक्ता को **'संतोष'** प्राप्त होता है, द्वितीय उस पदार्थ के रसास्वाद से क्षुधा का सम्यक् **'पोषण'** होता है और तृतीय उपभोगजनित तृप्ति से प्राप्त **'परमानन्द'** की अवस्था है। उपर्युक्त समान स्थिति ईश्वर पक्ष में भी लागू होती है, अर्पित पदार्थ से परमेश्वर को भी परमसंतोष प्राप्त होता है।

पुनः एक आवश्यक वीरशैवानुशासन को बता रहे हैं —

जैसे किसी पत्थर से अथवा धातु से निर्मित शिवलिंग की सम्यक् शास्त्रीय विधिविधान से स्थापना होने पर, भक्त की उस लिंग में पाषाणबुद्धि नहीं होती, उसी प्रकार परमेश्वर को समर्पित समस्त भोग्य पदार्थ पूर्वनिर्मित स्वरूप में न रहकर प्रसादरूप हो जाते हैं। इस हेतु समर्पित द्रव्य में भात, खीर, लड्डू इत्यादि की भावना न करते हुए केवल प्रसाद की भावना की जानी चाहिये।।१५-१६।।

पूजादौ पूजान्ते भवेदयं भक्तितः पदार्थतनुः ।
पूजान्ते पूजादौ प्रपदेत् पुनरेष हि प्रसादतनुम् ।।१७।।

पूजा के आरम्भ से पूजा की इतिश्री तक भक्त समस्त पूजाद्रव्यों का भक्तिपुरस्सर समर्पण करता है, इस हेतु पूजा-समय में पूजाद्रव्यों को ही भक्त का शरीर कहा गया है। इसी तरह आज की पूजासमाप्ति के पश्चात् जब भक्त परमेश्वर शिव के प्रसाद को ग्रहण करता है, उस समय से द्वितीय दिन की पूजासमय तक शिवभक्त **'प्रसादतनु'** हो जाता है।।१७।।

पदार्थकायः पूजायां भक्तो भक्तिप्रभावतः ।
प्रसादकायः पूजान्ते पुनः पूजाक्रियावधि ।।१८।।

इस प्रकार वीरशैव अपनी भक्ति के प्रभाव से पूजाकाल में 'पदार्थकाय', अर्थात् पूजापदार्थ ही जिसकी देह है, होता है और पूजासमाप्ति से पुनः पूजा प्रारम्भ होने के मध्यकाल में वह **'प्रसादकाय'** अर्थात् प्रसाद ही जिसका शरीर है, होता है।।१८।।

यद्रूपं वस्तु नामार्चाकाले लिङ्गमुखार्पितम् ।
तद्रूपं पुनरर्चाकालपर्यन्तं प्रसादकम् ।।१९।।

पूजा-समय में लिंगमुख में अर्पित वस्तु जिस रूप की होती है, वह वस्तु पुनः पूजा-समय तक **'प्रसादरूप'** रहती है।।१९।।

लिङ्गस्य पूजावसरे द्रव्यं दत्तं शुभं भवे ।
अनावसरिकं दत्तमशुभं तदनर्पितम् ।।२०।।

लिंगार्चन-समय में भक्तों द्वारा कोई भी दिया हुआ पदार्थ अत्यन्त शुभ होता है। अन्य समय में प्रदान किये हुए पदार्थ अर्पित न होने के कारण अशुभ होते है।।२०।।

पुनः उपर्युक्त कथन को पुष्ट कर रहे हैं —

लिङ्गस्यावसरे यत्तद् द्रव्यं दत्तं शुभं भवेत् ।
आत्मनोऽवसरे दत्तमशुभं तदनर्पितम् ।।२१।।

लिंगपूजा-समय में रत शिवभक्त को अपेक्षित वस्तु की प्राप्ति शुभ मानी जाती है, किन्तु पूजा-समय के व्यतीत हो जाने पर आत्मोपभोगहेतु आगत अपेक्षित वस्तु अनर्पित होने के कारण अशुद्ध होती है।।२१।।

इष्टलिङ्गार्पितं शुद्धं प्राणलिङ्गमुखार्पितम् ।
सिद्धं ततः प्रसिद्धं हि भावलिङ्गार्पितं विदुः ।।२२।।

इष्टलिंग को अर्पित द्रव्य **'शुद्ध प्रसाद'** है, प्राणलिंग को अर्पण किया गया द्रव्य **'सिद्ध प्रसाद'** है और भावलिंग को समर्पित द्रव्य **'प्रसिद्ध प्रसाद'** है।।२२।।

तत्तदर्पणतो लब्धं प्रसादं तत्तदादरात् ।
भुङ्क्ते यत्नात् स्वयं विश्वतैजसप्राज्ञरूपतः ।।२३।।

पूजाद्रव्यों को इष्टलिंग, प्राणलिंग और भावलिंग को अर्पित करने से अनुक्रम से प्राप्त होनेवाले शुद्ध, सिद्ध और प्रसिद्ध प्रसादों को जीवात्मा विश्व, तैजस और प्राज्ञ इन तीन रूपों से भक्तिपुरस्सर ग्रहण करता है।।२३।।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिसर्वावस्थासु सर्वदा ।
लिङ्गार्पितोपभोगेन निर्लेपोऽयं न संशयः ।।२४।।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य और तुर्यातीत सभी अवस्थाओं में वह जीवात्मा लिंगार्पित वस्तुओं का भोक्ता होने पर भी निर्लिप्त रहता है, अर्थात् कर्मफल से बद्ध नहीं होता।।२४।।

त्रिषु धामसु यद् भोग्यं भोक्ता भोगश्च यो भवेत् ।
त्रिविधं प्रति यो वेद स भुञ्जानो न लिप्यते ।।२५।।

तीन स्थानों में, अर्थात् 'इष्टलिंग, प्राणलिंग और भावलिंग' में भोग्य, भोक्ता और भोगविषयक 'त्रिपुटी ज्ञान' का जिसे विवेक होता है, वह भोग्य वस्तु का उपभोग लेता हुआ भी निर्लेप रहता है, उसे कर्मबन्ध नहीं होता। इस प्रकार क्रियार्पण विधि का कथन सम्पूर्ण हुआ।।२५।।

ज्ञानार्पणमतो वक्ष्ये स्वानुभूत्यैकगोचरम् ।
सर्वेन्द्रियमुखागामी द्रव्यदोषनिवृत्तये ।।२६।।

(अब ग्रन्थकार) इन्द्रिय द्वारा दूषित अथवा वर्ज्य पदार्थ के सेवन से उत्पन्न दोष की निवृत्तिहेतु अनुभवमात्रैकगम्य ज्ञानार्पण-विधि का कथन कर रहे हैं।।२६।।

सोऽयं षट्स्थलरूपेण तत्तल्लिङ्गमुखार्पितम् ।
प्रसादमादरेणैव स्वतःसिद्धं समश्नुते ।।२७।।

वह परमेश्वर षट्स्थलरूप से तत्-तत् लिंग को अर्पित किये हुए स्वतः सिद्धप्रसाद का आदरभाव से उपभोग करता है।।२७।।

षडक्षरात्मके लिङ्गे सर्वाङ्गे सुप्रतिष्ठिते ।
तत्रैव चार्पितं सर्वमित्याहुः श्रुतयः खलु ।।२८।।

षडक्षरात्मक लिंग सर्वांग में सुप्रतिष्ठित है। उस लिंगस्थान में ही समस्त पदार्थों का समर्पण होता है, ऐसा श्रुतियाँ कहती हैं।।२८।।

'ॐ नमः शिवाय' एतत् प्रकारात्मिका षडक्षरी विद्या है। इस मन्त्र का पदकृत्य-पूर्वक अर्थ स्पष्ट कर रहे हैं —

ओमिति जगदखिलं स्यान्नम
इति न ममेदमपि शिवायेति ।
समर्पकोऽयं मन्त्रः
षडक्षरो मन्त्रनायको जयति ।।२९।।

'ॐ' पद का अर्थ है — **स्थावरजङ्गमात्मक** जगत् और 'नमः' का अर्थ **मेरा नहीं है** तथा 'शिवाय' का अर्थ है — **शिव के लिए है।** सम्मिलितार्थ यह हुआ कि — स्थावर जङ्गमात्मक जगत् मेरा नहीं है, अपितु शिव के लिए है। इस प्रकार यह षडक्षर मंत्र 'जगत् के समस्त द्रव्यों का समर्पण परमेश्वर को करनेवाला होने से' सर्वोत्कृष्ट है।।२९।।

न ममेदं जगत् सर्वं शिवायेति शिवार्पणम् ।
अभिधत्ते द्विमात्राह्वो मन्त्रो लुप्तमकारकः ।।३०।।

तस्मादर्पणसद्भावज्ञानमेव समभ्यसेत् ।

यह जगत् मेरे लिए नहीं है, सब कुछ शिव के लिए है, अतः इसको शिव को समर्पित कर देना चाहिये। इसी विषय को लुप्त मकारवाला दो मात्रा का मन्त्र बताता है। इसलिये **अर्पणसद्भाव** का ही अभ्यास करना चाहिए ।।३०।।

अथ गन्धो रसो रूपं स्पर्शः शब्दस्ततः परम् ।।३१।।

परिणामः पदार्था हि षडेते सार्वकालिकाः ।
एकैकस्य पदार्थस्य नानाभेदाः पृथक् पृथक् ।।३२।।

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, परिणाम ये सार्वकालिक छः पदार्थ हैं और प्रत्येक पदार्थ के अनेकविध भेद हैं।।३१-३२।।

गन्धादय इमे मात्राः पृथ्व्यादीनामनुक्रमात् ।
एकस्मिन् वस्तुनि रतास्ते सर्वे ह्येकरूपतः ।।३३।।

गंधादि अर्थात् गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये पंचतन्मात्राएँ क्रम से पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश इन पंचमहाभूतों के गुण हैं और यह मात्राएँ अपने-अपने आश्रयस्थल में एकरूप रहती हैं, अर्थात् जैसे पृथ्वी का 'गुण' गन्ध है, परन्तु उस पृथ्वी तत्त्व में रस, रूप और स्पर्श आदि भी उस गुण के उपकारक होते हुए तद्रूप हो जाते हैं, इसी प्रकार जल तेज, वायु और आकाश के विषय में जानना चाहिए।

ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ ग्रन्थकार ने वेदान्तसम्मत पंचीकरण प्रकार को प्रतिपादित किया है।।३३।।

चन्दनादिमयो गन्धो मधुरादिमयो रसः ।
वैद्युतादिमयं रूपं स्पर्शो मृद्वादितन्मयः ।।
स्यान्नादादिमयः शब्दः परिणामस्ततः परः ।।३४।।

सुखादिमय इत्येवं नानाभेदाः प्रकीर्तिताः ।
एवंभूतेषु सर्वेषु पदार्थेषु निरन्तरम् ।।३५।।

चन्दनादि द्रव्यों के रूप से रहनेवाला गन्ध, मधुरादि द्रव्यों के रूप से रहनेवाला रस, विद्युत् आदि के रूप से रहनेवाला रूप, मृत्तिका, जल आदि के रूप से रहने वाला स्पर्श, नाद आदि रूप से रहनेवाली शब्दादि पञ्चतन्मात्राओं से पृथक् रहनेवाला परिणाम सुखादि रूप है, इस प्रकार से पदार्थों के अनेक भेद बताये गये हैं। ये समस्त पदार्थ निरन्तर ।।३४-३५।।

लिङ्गार्पणधिया ह्यात्मा प्रसादसुखमश्नुते ।
द्रव्याण्येतानि सर्वाणि विभज्य स्वस्वरूपतः ।।
लिङ्गार्पणधिया भुङ्क्ते तानि वस्तूनि सर्वदा ।।३६।।

लिंगार्पित हैं, यह समझकर यह जीवात्मा उसका उपभोग लिंगप्रसाद के रूप में लेता रहता है। इस प्रकार समस्त पदार्थों का विभाग करके वह (जीवात्मा) अपनी अनुकूलता के अनुरूप लिंगार्पण-बुद्धि से उन पदार्थों का नित्य उपभोग किया करता है।।३६।।

भक्तोऽयमात्मा स्वयमेव गन्ध
माचारलिङ्गार्पितमादरेण ।
भुङ्क्ते सदा सन्निहितस्वभावात्
प्रसादरूपेण समागतं हि ।।३७।।

यह भक्तरूप जीवात्मा सर्वदा भगवान् शिव की सन्निधि में रहते हुए अपने-आप प्राप्त हुए 'गन्ध' को आचारलिंग के प्रति अर्पित करके भगवत्प्रसाद के रूप में उसका ग्रहण करता है।।३७।।

माहेश्वरोऽयं गुरुलिङ्गमूर्ते-
र्मुखे सदैवार्पितमाकलय्य ।
प्रसादभूतं रसमानुकूल्य-
स्वभावतः सादरमेव भुङ्क्ते ।।३८।।

यह माहेश्वररूप जीवात्मा 'रस' के उपलब्ध होने पर उसे गुरुलिंग के प्रति अर्पित कर उसका उपभोग प्रसाद के रूप में करता है।।३८।।

रूपं पदार्थं शिवलिङ्गवक्त्रे
समर्पितं सन्ततमेव भक्त्या ।
स्वयं समायातमुपाधियोगा-
दयं प्रसादी भजते प्रसादम् ।।३९।।

परमेश्वर की इच्छा से 'रूप' के उपलब्ध होने पर उसे शिवलिंग के प्रति समर्पित करके उपाधिसम्बन्ध के कारण बना हुआ यह प्रसादी जीवात्मा शिवलिंग का प्रसाद समझकर उसका (रूप का) ग्रहण करता है ।।३९।।

स्पर्शं समादाय बहुप्रकारं
समर्पितं यच्चरलिङ्गवक्त्रे ।
भुङ्क्ते प्रसादात्मतयोपलब्धं
यः प्राणलिङ्गी स्वयमेवमात्मा ।।४०।।

यह प्राणलिंगी जीवात्मा विविध प्रकार के 'स्पर्श' को चरलिंग के प्रति समर्पित कर उसका (स्पर्श का) उपभोग शिव के प्रसादरूप में करता है।।४०।।

य एष नित्यं शरणस्थलात्मा
प्रसादलिङ्गार्पितमेव शब्दम् ।
स्वयं गृहीत्वा विविधोपदिष्टं
प्रसादभोगं कुरुते स्वभावात् ।।४१।।

शरणस्थल जीवात्मा प्रसादलिंग के प्रति 'शब्द' को अर्पित कर अनेक वस्तुओं से उत्पन्न हुए शब्द का सेवन भक्तिपूर्वक प्रसाद के रूप में करता है ।।४१।।

ऐक्यात्मकोऽयं परिणामवस्तु
सदा महालिङ्गसमर्पितं हि ।
स्वभावसिद्धं निजभक्तियोगा-
न्निषेवते तृप्तिघनप्रसादम् ।।४२।।

ऐक्यात्मक जीवात्मा महालिंग के प्रति परिणामवस्तु का नित्य समर्पण करके अपनी प्रेमरूपा भक्ति के द्वारा सहज सिद्ध हुए तृप्तिरूप प्रसाद का सेवन करता रहता है ।।४२।।

एवं षडङ्गस्थलरूपतोऽसौ
स्वस्मिन् स्थिते षड्विधलिङ्गतत्त्वे ।
समर्पितं षड्विधवस्तुजातं
प्रसादरूपेण सदैव भुङ्क्ते ।।४३।।

इस प्रकार षट्स्थलरूप से यह जीवात्मा अपने में रहनेवाले छः लिंगों के प्रति अर्पित करके छः प्रकार की वस्तुओं का उपभोग प्रसाद के रूप में सर्वदा करता रहता है ।।४३।।

आचारायार्पिता पृथ्वी गुरोराप: समर्पिताः ।
शिवाय चार्पितं तेजश्चराय मरुदर्पितः ।।
प्रसादायार्पितं व्योम जीवात्मा महतेऽर्पितः ।।४४।।

आचारलिंग के प्रति **'पृथिवी'** का समर्पण किया गया है, गुरुलिंग के प्रति **'जल'** का समर्पण किया गया है, शिवलिंग के प्रति **'तेज'** का अर्पण किया गया है, चरलिंग के प्रति **'वायु'** को अर्पित किया है, प्रसादलिंग के प्रति **'आकाश'** को समर्पित किया है तथा इस जीवात्मा का समर्पण महालिंग के प्रति किया गया है।।४४।।

आचारे दिव्यलिङ्गे निरुपमनिजभक्तस्थलाङ्गैक्यभाजि
घ्राणास्ये चित्तहस्तेन च घनसुखहेतौ क्रियाशक्तियुक्ते ।
घ्रातव्यं द्रव्यमप्यर्पणविषयविधानोपदिष्टं समर्प्य
प्रायः सद्भक्तिपूर्णः स्वयमयमिह गन्धप्रसादं भजेत ।।४५।।

अपने अनुपम भक्तस्थलांगों के साथ ऐक्यभाव को प्राप्त हुए, नित्यसुखदायक, क्रियाशक्ति से युक्त और नासिका ही जिसका मुख है, ऐसे आचारलिंग को सद्भक्ति से परिपूर्ण हुआ भक्तरूप जीवात्मा अपने चित्तरूपी हाथ से ज्ञानार्पणविधि के अनुसार गन्ध द्रव्य का अर्पण करके उस आचारलिंग के द्वारा प्राप्त हुए उस गन्धप्रसाद का ग्रहण करता है।।४५।।

स्वाङ्गे माहेश्वरात्मन्यनुपमसहजज्ञानशक्तिप्रयुक्ते
जिह्वास्ये सुप्रसिद्धे परतरगुरुलिङ्गाभिधे संस्थितेऽस्मिन् ।
निष्ठाभक्तिप्रभावप्रणिहितसुमहाबुद्धिहस्तेन विद्वान्
रस्यं द्रव्यं समर्प्य स्वयममलरसाख्यं प्रसादं भजेत ।।४६।।

माहेश्वरसंज्ञक अपने अंगस्थलों में रहनेवाली अनुपम तथा साहजिक (स्वाभाविक) ज्ञानशक्ति से युक्त और जिह्वा ही जिसका मुख है, उस सुप्रसिद्ध एवं श्रेष्ठ गुरुलिंग को निष्ठा-भक्ति से प्रेरित हुए बुद्धिरूपी हाथ से विद्वान् माहेश्वर जीवात्मा रस द्रव्य का समर्पण करके उस गुरुलिंग के द्वारा प्राप्त हुए निर्मल रस को प्रसादरूप में ग्रहण करता है।।४६।।

योऽसौ नित्यं प्रसादिस्थलपरमपदप्राप्तदिव्याङ्गभाजि
स्वेच्छाशक्तिप्रयुक्ते दृशि जगति मुखे पाणिनाऽहङ्कृतेन ।
साक्षाल्लिङ्गे शिवाख्ये सविनयमवधानात्मताभक्तियुक्तो
द्रष्टव्यांशं समर्प्यार्पणविनिहितरूपप्रसादं भजेत ।।४७।।

प्रसादरूपी अंगस्थलों में रहनेवाले, इच्छाशक्ति से युक्त और दृष्टि ही जिस का मुख है, ऐसे शिवलिंग को अहंकाररूपी हाथ से अवधानभक्तिविशिष्ट जीवात्मा विनयपूर्वक रूप द्रव्य का समर्पण करके उस शिवलिंग से प्राप्त हुए अर्पणविधानोक्तरूप प्रसाद का ग्रहण करता है।।४७।।

संसक्ते प्राणलिङ्गिस्थलनिहितनिजाङ्गे मनः पाणिनाऽसौ
लिङ्गे साक्षाच्चराख्ये त्वचि जगतिमुखे ह्यादिशक्तिप्रयुक्ते ।
स्प्रष्टव्यं चार्पयित्वा स्वयमनुभवभक्तिप्रभावोपपन्नो
नित्यं स्पर्शप्रसादं निरतिशयसुखं तत्त्ववेत्ता भजेत ।।४८।।

प्राणलिंगिनामक अंगस्थलों में विद्यमान रहनेवाली त्वचा ही है मुख जिसका, उस आदिशक्तिविशिष्ट चरलिंग को मनरूपी हाथ से अनुभवभक्ति से युक्त हुआ तत्त्ववेत्ता जीवात्मा स्वयं स्पर्श द्रव्य को नित्य अर्पित करके उस चरलिंग से प्राप्त हुए अत्यन्त सुख से युक्त स्पर्शप्रसाद का ग्रहण करता है।।४८।।

लिङ्गे साक्षात्प्रसादे विमलशरणसंज्ञाङ्गसंस्थापितेऽस्मिन्
श्रोतव्यं श्रोत्रवक्त्रे निखिलमिह पराशक्तियुक्ते समर्प्य ।
आनन्दाकारभक्तिस्फुटतरपरमज्ञानहस्तेन सोऽयं
शब्दाख्यं तत्प्रसादं स्वयमविरतमत्याश्रमस्थो भजेत ।।४९।।

शरणसंज्ञक अंगस्थलों में रहनेवाले, पराशक्ति से युक्त और श्रोत्र ही जिसका मुख है, ऐसे प्रसादलिंग को आनन्दाकार भक्ति से प्रेरित हुए ज्ञानरूपी हाथ से अत्याश्रमी जीवात्मा श्रोतव्य समस्त पदार्थों (शब्दों) का समर्पण करके, उस प्रसादलिंग से प्राप्त हुए शब्दप्रसाद का नित्य ग्रहण करता है।।४९।।

ऐक्याङ्गं भाजि लिङ्गे महति हृदि मुखे चिन्महाशक्तियुक्ते
नित्यं भावेन हस्तेन च समरसभक्तिप्रसक्तः स्वयं सन् ।
स्मर्तव्यं चार्पयित्वा विशदमतिरवश्यं सदैवार्पणीयं
तस्माल्लब्धं विशुद्धं घनतरपरिणामप्रसादं भजेत ।।५०।।

ऐक्यसंज्ञक अंगस्थल में विद्यमान रहनेवाले, हृदय ही जिसका मुख है और श्रेष्ठ चिच्छक्ति से युक्त महालिंग को भावरूपी हाथ से, समरसभक्तियुक्त सूक्ष्मबुद्धिरूप जीवात्मा नित्य अर्पण करने योग्य स्मरण पदार्थ को समर्पित करके उस महालिंग से प्राप्त हुए शुद्ध और श्रेष्ठ परिणामप्रसाद का ग्रहण करता है।।५०।।

अङ्गं च लिङ्गं च मुखं च हस्तो
भक्तिश्च शक्तिश्च तथार्पणं च ।
प्रसाद इत्यष्टविधस्थलानि
प्रतिस्थलं षट्स्थलसंज्ञितानि ।।५१।।

अंग, लिंग, मुख, हस्त, भक्ति, शक्ति, अर्पण और प्रसाद — ये आठ स्थल प्रत्येक स्थल में विद्यमान रहते हैं, तथापि उन्हें षट्स्थल संज्ञा दी गयी है।।५१।।

अङ्गं च लिङ्गं च सदेव जातं
भक्तिश्च शक्तिश्च तथा चिदेव ।
आनन्द एव स्वयमर्पणं च
प्रसादरूपं च भवेत् त्रितत्त्वम् ।।५२।।

अंग और लिंग — ये दोनों **सत्** हैं । भक्ति और शक्ति — ये दोनों **चित्** हैं, अर्पण और प्रसाद — ये दोनों **आनन्द** हैं। इस प्रकार से सत्, चित्, आनन्द — ये तीन तत्त्व हैं ।।५२।।

सवितुः पदमङ्गं स्याद् भर्गपदं लिङ्गमेव सम्बन्धः ।
धीमहिपदमित्येषा गायत्र्याहाङ्गलिङ्गसंबन्धः ।।५३।।

गायत्रीमन्त्र में **'सवितुः'** पद का अर्थ 'अंगस्थल' है, **'भर्ग'** पद का अर्थ 'लिंगस्थल' है, **'धीमहि'** पद का अर्थ 'लिंगांगसम्बन्ध' (शिव-जीवैक्य) है। इस प्रकार से गायत्री मन्त्र में 'लिंगांगसम्बन्ध' बताया गया है ।।५३।।

जीवः सविता देवः परमो भर्गस्तदर्थकं वरणीयम् ।
अनयोरैक्यं धीमहिपदमेषा प्राह जीवपरमैक्यम् ।।५४।।

'सवितादेव' का अर्थ है — **'जीव'**, **'भर्ग'** का अर्थ है — 'परमशिव', वही **'वरेण्य'** अर्थात् उपास्य है। इन दोनों का ऐक्य **'धीमहि'** — पद से बताया गया है। इससे स्पष्ट है कि गायत्री मन्त्र में 'जीव' और 'शिव' — दोनों का ऐक्य बताया गया है।।५४।।

अङ्गं जीवः परमो लिङ्गसम्बन्ध एव तादात्म्यम् ।
तद्वत् पदार्थरूपं प्रसादरूपं समर्पणं त्रिविधम् ।।५५।।

यह जीवात्मा 'अंग' है और वह परशिव 'लिंग' है, इन दोनों का सम्बन्ध 'तादात्म्य' (अभेद) है। उसी प्रकार 'पदार्थ', 'प्रसाद' और 'समर्पण' — इन तीनों का सम्बन्ध है।।५५।।

पदार्थरूपो जीवश्च प्रसादः परमो भवेत् ।
समर्पणं च तादात्म्यमिति शैवी परा स्थितिः ।।५६।।

यह 'जीव' पदार्थ है और वह 'शिव' प्रसाद है तथा 'समर्पण' जीव-शिवरूप पदार्थ-प्रसाद का तादात्म्य है। यह वीरशैवों का सिद्धान्त है।।५६।।

एकधा च त्रिधा षड्धा नवधा च प्रवर्तते ।
स्वयमेव परं लिङ्गं न ततोऽन्यच्च किञ्चन ।।५७।।

वह परलिंग स्वयं एक होता हुआ भी प्रथमतः तीन प्रकार का हुआ, तदनन्तर छः प्रकार का हुआ, पश्चात् नौ (नव) प्रकार का हुआ। 'लिंग' ही सब कुछ है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है।।५७।।

नव लिङ्गान्यविज्ञाय तन्मुखान्यर्पणानि च ।
कथं निर्लेपतामेति सर्वेष्विन्द्रियकर्मसु ।।५८।।

नौ (नव) लिंग और उनके मुख तथा अर्पण को समझे बिना यह जीवात्मा कर्मबन्धन से मुक्त नहीं सकता ।।५८।।

लेपोऽज्ञं न जहेज्जातु तज्ज्ञं स्पृशति न क्वचित् ।
सर्पिषा लिप्यते पाणी रसना नैव लिप्यते ।।५९।।

अज्ञानी मनुष्य को कर्म का बन्धन नित्य ही रहता है। ज्ञानी मनुष्य को कर्मबन्धन का स्पर्श तक कभी नहीं होता। हाथ को जैसे घृत का लेप होता है, वैसा जीभ (रसना) को नहीं होता ।।५९।।

यथा कालिकया दृष्टौ संपृक्ताऽपि न लिप्यते ।
पक्ष्मणोरन्तरा तारा तथा सम्यक् शिवात्मवित् ।।६०।।

आँख में काजल के लगाने से आँख की पुतली जैसे काली नहीं होती, उसी तरह शिवतत्त्वज्ञानी कर्म से लिप्त नहीं होता ।।६०।।

शरीरादिपदार्थांश्च दत्वा दानं समर्पणम् ।
समर्प्य सोऽहमस्मीति दासोऽहंभाव उच्यते ।।६१।।

शरीरादि समस्त पदार्थ भगवान् शिव को अर्पित करना ही महादान है और 'वही मैं हूँ' यह समझना ही दासभाव (दास्य) है — ऐसा शास्त्र कहता है।।६१।।

इन्द्रियादागतं किञ्चिद्यत्सुखं तच्छिवार्पितम् ।
तत्प्रसादं तु भोक्तव्यं तदिन्द्रियमुखेन च ।।६२।।

इन्द्रिय से उत्पन्न होनेवाले सुख को प्रथमतः शिव को अर्पित कर उसे प्रसाद के रूप में उसी इन्द्रियरूपी मुख से ग्रहण करे।।६२।।

येन गन्धरसौ रूप-स्पर्श-शब्द-रतिक्रियाः ।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते ।।६३।।

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द — इन पाँच विषयों का अनुभव इन्द्रियजन्य है और समस्त इन्द्रियाँ शिवलिंगात्मक हैं — यह ज्ञान होने पर '**अज्ञेय**' वस्तु कौन सी शेष रही? ।।६३।।

एवं लिङ्गार्पितं सर्वमिति यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽश्नुते सकलान् भोगान् विपश्चिद् ब्रह्मणा सह ।।६४।।

जो ज्ञानी मनुष्य वस्तुतः यह समझता है कि यह सब कुछ लिंगार्पित है, वह ब्रह्मा के साथ सम्पूर्ण भोगों को भोगता है।।६४।।

लिङ्गदेही शिवात्माऽयं लिङ्गाचारो न लौकिकः ।
सर्वं लिङ्गमयं रूपं लिङ्गेन सममश्नुते ।।६५।।

लिंगधारण करनेवाला साक्षात् भगवान् शिव ही है। यह लिंगाचार लौकिक नहीं है। यह जीवात्मा लिंगरूपी संपूर्ण वस्तुमात्र का लिंग के साथ उपभोग कर लेता है।।६५।।

सर्वाङ्गं लिङ्गमेव स्यादन्नपानाद्यमर्पितम् ।
प्रसादस्तृप्तिरेव स्यात् सर्वं लिङ्गमयत्वतः ।।६६।।

अन्न-पानादि सम्पूर्ण अर्पित पदार्थ लिङ्गमय हैं, सम्पूर्ण पदार्थ लिङ्गमय होने के कारण '**प्रसाद**' को तृप्तिरूप ही समझना चाहिए।।६६।।

एतदर्पणसद्भावज्ञानं वेदान्तवाक्यजम् ।
गुरूपदेशतः साध्यं नान्यथा शास्त्रकोटिभिः ।।६७।।

वेदान्त में प्रतिपादित यह अर्पणसद्भाव ज्ञान गुरु के उपदेश से ही प्राप्त होता है, केवल शास्त्राध्ययन से प्राप्त नहीं होता ।।६७।।

श्रीलिङ्गार्पणसद्भावमवोचं परमार्थतः ।
अर्पितं च प्रसादं च भोगं निर्लेपतां प्रति ।।६८।।

अर्पण, प्रसाद, भोग, निर्लेपत्व को उद्देश्य कर इस लिङ्गार्पण-सद्भाव को मैने यथार्थरूप से बताया है।।६८।।

एतद् यो वेद सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरति प्रभुः।
शिवसिद्धान्तकं तन्त्रं शिवाऽद्वैतं शिवं पदम् ।।६९।।

इति श्रीवातुलोत्तरतन्त्रे शिवानुभवसूत्रे षट्स्थलनिर्णयेऽ-र्पणसद्भावो नाम सप्तमाधिकरणं सम्पूर्णम्।।

शिवाऽद्वैतप्रतिपादक तथा मोक्षदायक इस शिवसिद्धान्तशास्त्र को जो जानता है, वह अज्ञान से मुक्त हो जाता है।।६९।।

इस प्रकार वातुलागम के उत्तरतन्त्र के शिवानुभवसूत्रोक्त षट्स्थलनिर्णयान्तर्गत अर्पणसद्भाव नाम का सप्तम अधिकरण सम्पूर्ण हुआ।।७।।

इत्यनुभवसूत्रे वैदिकतिलकमीमांसाभूषणपण्डित-
गजाननसदाशिवमुसलगाँवकरशास्त्रिणा कृते
किरणाख्यानुवादेऽर्पणसद्भावो नाम
सप्तमाधिकरणं समाप्तिमगमत्।।

अष्टमाधिकरणे क्रियाविश्रान्तिः

क्रियाविश्रान्तिमाचक्षे साक्षादीश्वरभाषिताम् ।
देव्यै रहस्यरूपेण तामिदानीं समासतः ।।१।।

साक्षात् परमेश्वर ने भगवती पार्वती को क्रियासमाप्ति का जो रहस्यमय प्रकार बताया, उसे मैं अब संक्षेपतः बता रहा हूँ ।।१।।

अस्यात्मनः क्रियाः सर्वा लिङ्गार्पिततया स्थिताः ।
स्वस्मिन्नेव स्वयं यान्ति विश्रान्तिं सुखलक्षणाम् ।।२।।

इस जीवात्मा की सम्पूर्ण क्रियाएँ लिंग के प्रति समर्पित की जाने के कारण अपने आप सुखरूपी विश्रान्ति को प्राप्त करती हैं।।२।।

प्रोच्यते परमार्थज्ञैः क्रियाविश्रान्तिरित्यतः ।
क्रियाविश्रान्तिरेवात्र सम्यग्ज्ञानं न संशयः ।।३।।

इसीलिए तत्त्वज्ञानियों ने क्रियासमाप्ति को ही 'क्रियाविश्रान्ति' शब्द से कहा है। क्रिया की विश्रान्ति होना ही वास्तव में उत्तम प्रकार का ज्ञान, अर्थात् सम्यग्ज्ञान कहा गया है।।३।।

सम्यग्ज्ञानमहं साक्षाच्छिव एवेति वेदनम् ।
वेदनेनैव तेनायमाप्तकामः सुखी भवेत् ।।४।।

'मैं साक्षात् 'शिव' ही हूँ — यह समझना ही 'उत्तम ज्ञान' अर्थात् सम्यग् ज्ञान (यथार्थ ज्ञान) है। इस ज्ञान से ही कृत-कृत्य हुआ वीरशैव सुखी होता है।।४।।

आप्तकामस्य सुखिनः कामाचारा बहिर्मुखाः ।
प्रवृत्ता लौकिकाः सर्वे प्रययुर्नाशमात्मनि ।।५।।

इस प्रकार से सम्पूर्ण कामनाओं (इच्छाओं) की पूर्ति हो जाने के कारण सुखी हुए शिवयोगी (वीरशैवयोगी) के बाह्य समस्त लौकिक स्वेच्छाचारों का विलय स्वात्मा में ही, अर्थात् उसकी अपनी आत्मा में ही हो जाता है।।५।।

प्रणष्टेष्वेषु सर्वेषु स्वेच्छाचारेण यत् कृतम् ।
तच्छिवार्चनमेव स्याद् यद् भुक्तं तच्छिवार्पितम् ।।६।।

इन सम्पूर्ण लौकिक क्रियाप्रकारों के नष्ट होने पर वह वीरशैवयोगी अपनी स्वेच्छा से जो भी करता है, वह सब शिवार्चनस्वरूप ही होजाता है। वह जो कुछ भक्षण करता है, वह शिव को ही समर्पित हो जाता है।।६।।

शिवरूपतया सर्वं यस्य भाति स्वरूपतः ।
स्वेच्छाचारसमाचारस्तस्य चार्चा हि शूलिनः ।।७।।

जिस वीरशैवयोगी को यह सम्पूर्ण संसार (विश्व) शिवरूप ही भासता है, अर्थात् प्रतीत होता है, उसके स्वेच्छाचार को भी ईश्वरार्चन (शिवपूजा) ही समझना चाहिए।।७।।

एवमर्चनमीशस्य स्वेच्छाचारनिबन्धनम् ।
भवत्येव न सन्देहः शिवोऽहमिति वेदनात् ।।८।।

वस्तुतः 'मैं साक्षात् शिव ही हूँ' यह ज्ञान हो जाने से उस शैवयोगी के द्वारा अपनी स्वेच्छा से किये गये आचार भी शिवपूजनस्वरूप ही रहते हैं, इसमें सन्देह नहीं।।८।।

अहमिति शिव एव सत्यचिद्घनः
स्फुरति तदा पृथगस्ति नैव वस्तु ।
इदमिति वपुषा न तेन बन्धनं
नहि शरणस्य विमोचनं च किञ्चित् ।।९।।

जिस व्यक्ति को यह अनुभवात्मक प्रतीति होती हो कि 'मैं सच्चिदानन्दस्वरूप शिव ही हूँ' — उस व्यक्ति को, अर्थात् उस ज्ञानी पुरुष को संसार (जगत्) में कोई भी वस्तु शिव से पृथक् नहीं दिखाई देती। अतः सर्वभावेन शरण हुए उस व्यक्ति को न शरीर का बन्धन है और न मोक्ष है ।।९।।

बन्धमुक्त्योरभावे हि भक्तिरुक्ता निरर्गला ।
न बन्धे मोचने चापि न तयोश्च समुच्चये ।।१०।।

बन्ध और मोक्ष के अभाव में 'भक्ति' अबाधित (अखण्डित) रहती है, क्योंकि बन्ध अथवा मोक्ष (मुक्ति) में किं वा उनके समुच्चय में भक्ति का होना (अस्तित्व) कभी संभव नहीं है।।१०।।

बन्धे सति विमुक्तिः स्यात् सत्यां मुक्तौ च बन्धनम् ।
अन्यस्यापगमादन्य आगमिष्यति केनचित् ।।११।।

बन्धन होने पर मुक्ति होगी, मुक्ति यदि हो तो बन्धन होगा। बन्ध किं वा मुक्ति (मोक्ष) दोनों में से किसी एक के न रहने पर दूसरा किसी न किसी कारण से उपस्थित हो ही जायगा ।।११।।

परस्परानुबन्धेन वर्तेते बन्धमोचने ।
तस्मात् तयोरभावे तु भक्तिरुक्ता निरङ्कुशा ।।१२।।

बन्ध और मोक्ष दोनों परस्पर एक-दूसरे के आश्रय से रहते हैं। उन दोनों के न रहने पर 'भक्ति' का अस्तित्व स्वतन्त्रतया रहता है।।१२।।

न योगो न तपो नार्चा क्रमः कोऽपि न विद्यते ।
अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते ।।१३।।

मायारहित इस शैवमार्ग में योग, तप अथवा पूजाक्रम में से कोई भी प्रशस्त नहीं है, केवल भक्ति ही एकमात्र प्रशस्त है।।१३।।

भक्तिः सत्त्वगुणस्था रजोगुणाढ्या तमोगुणप्रथिता ।
स्वातन्त्र्येण सलीला प्रवर्तते शिवसमर्पिता शुद्धा ।।१४।।

सात्त्विक, राजस और तामस — तीन प्रकार की भक्ति स्वतन्त्र है। उस भक्ति को शिव के प्रति अर्पण करने पर वह निर्मल हो जाती है।।१४।।

सत्त्वरजस्तमसामप्यतिरिक्ता भक्तिरेभिरुपपन्ना ।
स्वविशुद्धतया तानप्येकाकारान् करोति हि त्रिगुणान् ।।१५।।

सत्त्व, रजस्, तमस् — इन तीन गुणों से पृथक् रहनेवाली भक्ति जब उक्त तीन गुणों से युक्त हो जाती है, तब वह अपनी शुद्धता (पवित्रता) से उन तीनों गुणों को एकाकार कर देती है।।१५।।

न राजसो गुणो भक्तौ परायां नैव तामसः ।
न सात्त्विकगुणोऽपि स्यात् स्वगुणैरगुणैव सा ।।१६।।

निसर्गत एव (स्वभाव से ही) भक्ति तो निर्गुण (गुणरहित) है, अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस् — ये तीन गुण भक्ति में नहीं हुआ करते ।।१६।।

रौप्यं ताम्रमयोघनं त्रितयमेतत् सात्त्विकं राजसं
प्रोक्तं तामसमेषु च त्रिषु विलेपं संश्रितोऽपि स्वयम् ।
कुर्यात् सिद्धरसः स्वनिर्मलतया लोहत्रयं तद् यथा
स्वर्णं षोडशवर्णपूर्णमकरोद् भक्तिस्तथा त्रीन् गुणान् ।।१७।।

चाँदी, ताँबा, लोहा — इन तीन धातुओं के समान 'सत्त्व, रजस्-तमस्'— ये तीन गुण हैं। चाँदी, ताँबा (ताम्र) और लोहे को सिद्धरस का लेप होने पर वह सिद्धरस अपनी निर्मलता से उन तीनों धातुओं को उत्तम सुवर्ण (सोना) बना देता है, उसी तरह भक्ति भी अपने संसर्ग से उन तीनों गुणों को निर्मल कर देती है ।।१७।।

यथा सिद्धरसो लोहत्रयं चैकप्रकारतः ।
कुर्यात् स्वर्णं तथा भक्तिरतिः शैवं गुणत्रयम् ।।१८।।

जैसे सिद्धरस तीनों धातुओं को एकाकार करके उन्हें सुवर्ण के रूप में परिणत कर देता है, उसी तरह भक्ति भी तीन गुणों को शिवात्मक कर देती है।।१८।।

कस्तूरीहिमकुङ्कुमानि हि तमः सत्त्वं रजो वर्णतः
कृष्णं शुभ्रमथारुणं यदुपरि प्राप्ता शिवैकात्मिका ।
भक्तिः स्वात्मगुणात्मिका जयति तत्सद्वासनारूपिणी
नैर्गुण्ये परमे पदे किमिह वक्ष्ये भक्तियोगस्थितिम् ।।१९।।

'सत्त्व, रजस्, तमस्' — ये तीन गुण कस्तूरी, कपूर और केशर के समान कृष्ण, शुभ्र और रक्त (लाल) — इन तीन रंगों के हैं। इन तीन गुणों पर शिवात्मक और स्वात्मगुणात्मक, अर्थात् परगुणस्वरूप को धारण न करनेवाली भक्ति का परिणाम होने पर वह उन पर वासनारूप से रहती है। उस निर्गुण परमात्मा के प्रति रहनेवाली भक्ति का माहात्म्य मैं क्या वर्णन करूँ ।।१९।।

अहं कर्ता समस्तस्य धर्माऽधर्मस्य कर्मणः ।
इत्यनेनाभिमानेन कर्मकाण्डोऽयमुच्यते ।।२०।।

'धर्म अथवा अधर्म इन समस्त कर्मों का कर्ता मैं हूँ — यह अभिमान जीव को जब तक रहता है, तब तक उसे **कर्मकाण्डी** कहा जाता है।।२०।।

नाऽहं कर्ताऽस्य कर्तृत्वं नैव साक्षी स्वभावतः ।
इत्यनेनाऽभिमानेन ज्ञानकाण्डोऽयमुच्यते ।।२१।।

'मैं कर्ता नहीं हूँ, मैं तो केवल साक्षी हूँ' — यह अभिमान जीवात्मा को जब आ जाता है, तब उसे **ज्ञानकाण्डी** कहते हैं।।२१।।

न कर्ताऽहं न साक्षी च शिव एवेति कर्मणोः ।
द्वयाभिमानराहित्यं भक्तिकाण्डोऽयमुच्यते ।।२२।।

कर्म का कर्ता या साक्षी मैं नहीं हूँ, उसका कर्ता या साक्षी तो शिव ही है — इस प्रकार उभय कर्मों का अभिमान न होने पर उस जीवात्मा को **भक्तिकाण्डी** कहा जाता है।।२२।।

शुक्तिः कर्मपदं सरोरुहदलं ज्ञानं पदं भाक्तिकं
तप्तायोघनमेषु संसृतिपयोबिन्दुः स्थितस्तत्क्रमात् ।
साफल्यं विफलत्वमाकृतितया प्रायेण नाशं गतो
नाम्नाप्येव शिवात्मिकां परतरां भक्तिं किमाचक्ष्महे ।। २३।।

जैसे सीप (शुक्ति), जल की बूँद (जलबिन्दु) को अपने पेट में (उदर में) रखकर उस जल-बूँद (जलबिन्दु) को मोती (मौक्तिक) बना देती है, उसी तरह कर्म करनेवाला मनुष्य कर्म के सुख-दुःखरूप फल को भोगता है। कमल के पत्र पर (कमल-दल पर) जल की बूँद के गिरने पर भी कमलपत्र जैसे निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार ज्ञानयोगी मनुष्य कर्म करता हुआ भी उन कर्मों से बद्ध नहीं होता, अग्नि से प्रतप्त हुए लोहे पर गिरी हुई जल-बूँद का लेप उसे नहीं हो पाता, वे बूँदें वहीं नष्ट हो जाती हैं, उसी तरह शिवभक्त जो कर्म करता है, वह नष्ट हो जाता है। उस शिवात्मिका श्रेष्ठ भक्ति का वर्णन हम कहाँ तक करें ।।२३।।

स्वच्छन्दाचारवर्तिन्या भक्त्या यत्कृतमर्चनम् ।
यद् भुक्तमर्पितं लिङ्गे मनोवाक्कायकर्मभिः ।।२४।।

स्वच्छन्द भक्ति के द्वारा किया हुआ शिवार्चन ही अर्चन है। जो भी खाया-पीया जाता है, वह काया, वाचा और मन के द्वारा शिवलिंग को ही समर्पित हो जाता है।।२४।।

गन्धपुष्पादिगन्धस्य ग्रहणं यत् तदर्चनम् ।
षड्रसास्वादनं यत्तन्नैवेद्याय प्रकल्पितम् ।।२५।।

चन्दन-पुष्प-फुलेल (इत्र) आदि सुगन्धी वस्तुओं का सूँघना भी शिवपूजनरूप ही है। षड्रसों का (मधुर-आम्ल-लवण-कटु-कषाय-तिक्त रसों का) आस्वाद (चखना) लेना भी शिव के लिए अर्पित नैवेद्य ही है।।२५।।

इन्द्रियाकारभावेन विषयाकारतः स्वयम् ।
क्रीडया देवता भुङ्क्ते स्वत इत्यर्चनं मतम् ।।२६।।

इन्द्रियों के रूप से तथा विषयों के रूप में भगवान् शिव ही स्वयं उनका उपभोग लेते हैं, यह ज्ञान होना ही वस्तुतः शिवार्चन है ।।२६।।

शिलालेखा स्थलीलेखा जललेखा त्रिधा क्रमात् ।
शुभाशुभात्मिका कर्मज्ञानभक्तिक्रिया मता ।।२७।।

पुण्य-पापरूप कर्म पाषाणलेखा (पत्थर पर लकीर) के समान है, ज्ञानकर्म स्थललेखा (जमीन पर लकीर) के समान है, भक्तिकर्म जललेखा (पानी पर लकीर) के समान है।।२७।।

नैव लोप्या शिलालेखा स्थलीलेखा च लुप्यते ।
नादौ लेखायते चान्ते जललेखा न लुप्यते ।।२८।।

शिखालेख (पाषाण पर लिखा हुआ) जैसे नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार कर्म से बन्धन हुए बिना नहीं रहता, अर्थात् कर्म से बन्धन अवश्य ही होता है। जमीन पर लिखा हुआ लेख जैसे पोंछा जा सकता है, वैसे ही ज्ञान से हुआ बन्धन पुनः नष्ट हो सकता है। जल पर यदि कोई लिखने का प्रयत्न करता है, तो भी उसका लेख जल पर उभर नहीं पाता, अर्थात् व्यक्त नहीं होता है और न उसे पोंछ सकते हैं, उसी प्रकार भक्ति से न बन्धन है और न मोक्ष ही है। अर्थात् दोनों का अभाव हो जाता है।।२८।।

शुभकर्माऽशुभं कर्म ज्ञानकर्म प्रसादकम् ।
एतच्चतुर्विधं कर्म तत्तत्फलविधायकम् ।।२९।।

'शुभ कर्म, अशुभ कर्म, ज्ञान कर्म और प्रसाद कर्म' — ये चारों प्रकार अपने-अपने फल देते हैं।।२९।।

पापान्नरकः पुण्यात् स्वर्गस्ताभ्यां विनैव कर्मभ्याम् ।
ज्ञानान्मोक्षस्तैस्त्रिभिरेव विना स्यात् प्रसादतो भक्तिः ।।३०।।

शुभ कर्म से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, अशुभ कर्म से नरक की प्राप्ति होती है और ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इन तीनों के बिना केवल प्रसाद हो तो उससे भक्ति प्राप्त होती है।।३०।।

प्रसादादेव सा भक्तिः प्रसादो भक्तिसंभवः ।
यथैवाङ्कुरतो बीजं बीजतो वा यथाङ्कुरः ।।३१।।

प्रसाद से भक्ति प्राप्त होती है और भक्ति से प्रसाद प्राप्त होता है। जैसे बीज से अंकुर और अंकुर से बीज हुआ करता है।।३१।।

ज्ञानं ब्रूते भक्तिः कुरुते शिवजीवयोः पृथग्भावम् ।
तेन ज्ञानं पूर्वं भक्तिस्तूत्तरतया विभाति ततः ।।३२।।

उसी प्रकार ज्ञान शिव-जीव के पृथग्भाव (भेद) को बताता है, किन्तु भक्ति 'शिव-जीव' का भेद करती है, अर्थात् शिव से जीव को पृथक् करती है। अतः 'ज्ञान' प्रथमतः है, तदनन्तर भक्ति होती है।।३२।।

आत्मानं च पृथक् कृत्वा प्रेरितारं तथा पृथक् ।
असौ जुष्टस्ततस्तेन ह्यमृतत्वाय कल्पते ।।३३।।

यह भक्ति जीवात्मा को प्रेरित करनेवाले (प्रेरिता) ईश्वर से पृथक् (भिन्न) करती है, तदनन्तर वह जीवात्मा परमेश्वर की सेवा करके (भक्ति करके) मुक्त होता है ।।३३।।

आत्मोपासक ईश्वरः स्वयमुपास्यः सर्वदैवेत्यसौ
भक्तिर्भोगकरी करोति शिवमात्मानं च कृत्वा पृथक् ।
यत्तत्क्षीरघृतारणीहुतवहस्रोतोम्बुवत् संयुतं
जीवेशैक्यपदं विभज्य परतोऽप्यस्याऽमृतत्वाय हि ।।३४।।

जीवात्मा उपासक है, ईश्वर सर्वदा उपास्य है। भोगदायिका भक्ति दूध और घृत, काष्ठ और अग्नि, प्रवाह और जल के समान मिश्रित होकर रहनेवाले जीव और ईश के ऐक्यपद को पृथक् करके जीवात्मा को मोक्ष प्रदान करती है।।३४।।

नेत्रे चाल्पविलोकिते सति पृथक्त्वं याति यत्तच्चिरं
रूपं वस्तु तदेकमेव पुरुषेणाश्चर्यसंस्पृग्धिया ।
कृत्वा भूय उभे समे यदि दृशौ तेनेक्षिते सत्यभूद्
रूपं पूर्ववदेकमेव विमलं चैकं स्वभावेन हि ।।३५।।

एक नेत्र बन्द कर और दूसरे नेत्र को किञ्चिन्मात्र खोलकर किसी वस्तु को देखने पर वह द्विधा दीखती है, तब आश्चर्य होने लगता है। किन्तु जब दोनों नेत्र खोलकर देखने लगता है, तब वही वस्तु एक ही दीखने लगती है।।३५।।

एवमद्वैतभक्त्यैव प्रसादः सर्वतोमुखः ।
प्रसिद्ध्यति ततः सर्वमात्मरूपेण दृश्यते ।।३६।।

इस प्रकार अद्वैत भक्ति के द्वारा ही सब तरह से परमेश्वर का प्रसाद प्राप्त किया जा सकता है, तब उपासक को सम्पूर्ण जगत् आत्मरूप ही दिखाई देता है।।३६।।

कर्ता कारयिता कर्मकरणं कार्यमेव च ।
सर्वमात्मतया भाति प्रसादात् पारमेश्वरात् ।।३७।।

'कर्ता, करानेवाला, कर्म का साधन और कार्य' — ये सब परमेश्वर के प्रसाद से आत्मरूप ही दिखाई देते हैं।।३७।।

भोक्ता भोजयिता भोगो भोगोपकरणानि च ।
सर्वमात्मतया भाति प्रसादात् पारमेश्वरात् ।।३८।।

'भोगनेवाला, भोग देनेवाला, भोग, भोग के साधन' — ये सब ईश्वरप्रसाद से आत्मरूप दिखाई देते हैं।।३८।।

ग्राहकश्च तथा ग्राह्यं ग्रहणं सर्वतोमुखम् ।
सर्वमात्मतया भाति प्रसादात् पारमेश्वरात् ।।३९।।

'ग्रहण करनेवाला, ग्राह्य वस्तु और ग्रहण' — ये सभी ईश्वर के प्रसाद से आत्मरूप दीखते हैं।।३९।।

जीवात्मा परमात्मा च तयोर्भेदश्च भेदकः ।
सर्वमात्मतया भाति प्रसादात् पारमेश्वरात् ।।४०।

'जीवात्मा और परमात्मा' — इन दोनों का भेद और उनमें भेद उत्पन्न करनेवाला, सब कुछ ईश्वरप्रसाद से आत्मरूप दिखाई देते हैं।।४०।।

शरीरमिन्द्रियं प्राणा मनो बुद्धिरहङ्कृतिः ।
सर्वमात्मतया भाति प्रसादात् पारमेश्वरात् ।।४१।।

'शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि और अहंकार' — ये सब ईश्वरप्रसाद से आत्मरूप दीखने लगते हैं।।४१।।

विधयश्च निषेधाश्च निषिद्धकरणान्यपि ।
सर्वमात्मतया भाति प्रसादात् पारमेश्वरात् ।।४२।।

'विधि, निषेध, निषिद्ध कर्म और उनके साधन' — ये सभी परमेश्वर के प्रसाद से आत्मरूप दीखने लगते हैं।।४२।।

कामक्रोधादयः सर्वे तथा शान्त्यादयोऽपि च ।
सर्वमात्मतया भाति प्रसादात् पारमेश्वरात् ।।४३।।

'काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर और शान्ति, दान्ति, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा तथा समाधि' — ये सभी ईश्वर-प्रसाद से शिवरूप भासित होते हैं।।४३।।

तस्माद‌द्वैतगां भक्तिमाश्रयेत् सर्वसिद्धिदाम् ।
न च द्वैतात्मिकां भक्तिं क्लेशहेतुप्रदायिनीम् ।।४४।।

अतः उपासक को चाहिए कि वह अद्वैत भक्ति करे, उसीसे समस्त सिद्धियों का लाभ होता है। वह द्वैत भक्ति को कभी न करे, क्योंकि उससे क्लेश होते हैं।।४४।।

अन्योन्यप्रार्थकं द्वैतं समसंयोगयोस्तयोः ।
कः कं भजति भक्त्या सा भक्तिरद्वैतगा नहि ।।४५।।

अद्वैतपदरूढा या भक्तिरद्वैतलक्षणा ।
सैवाऽद्वैताभिधा भक्तिरन्या केवलकल्पिता ।।४६।।

अद्वैतज्ञान को उत्पन्न करके अद्वैतपद तक पहुँची हुई जो भक्ति है, उसीको अद्वैतभक्ति कहते हैं और शास्त्रविधिरहित जो भक्ति है, वह तो केवल अपने मन की इच्छानुसार कल्पित भक्ति कहलाती है।।४५-४६।।

द्वैतभक्त्या हि संसारवर्धनं भिन्नरूपतः ।
अभिन्नरूपतोऽद्वैतभक्त्या संसारनाशनम् ।।४७।।

द्वैत भक्ति से संपूर्ण संसार में द्वैत (भेद) दिखाई देता है, उस कारण संसार की वृद्धि होती है। किन्तु अद्वैत ज्ञान के होने से अद्वैत भक्ति उत्पन्न होती है, जिससे संसार का विनाश होता है, अर्थात् संसार के प्रति अनासक्ति हो जाती है।।४७।।

द्वैतभक्तिः प्रपञ्चाख्या केनचित् कल्पिता मृषा ।
अद्वैतभक्तिरचला निर्विकल्पा निरञ्जना ।।४८।।

द्वैत भक्ति केवल प्रपञ्चरूप है, वह वास्तविक नहीं है, अर्थात् मिथ्या (अभिनयमात्र) है, वह किसीकी कल्पना का विलासमात्र है। किन्तु अद्वैत भक्ति से चित्त (मन)

के विकार (विकल्प) नष्ट हो जाते हैं। अद्वैत भक्ति से कर्म का लेप नहीं हो पाता। यह अद्वैत भक्ति सर्वदा स्थिर हुआ करती है।।४८।।

द्वैतभक्तिनिवृत्तौ हि साक्षादद्वैतलक्षणा ।
भक्तिर्गरीयसी भाति निजनिर्वाणरूपिणी ।।४९।।

द्वैत भक्ति के निवृत्त (नष्ट) होने पर श्रेष्ठ अद्वैत भक्ति का प्रकाश प्राप्त होता है। इसे ही 'केवलमुक्ति' कहते हैं।।४९।।

अद्वैतभक्तियुक्तस्य योगिनः सकलक्रिया ।
आस्ते दग्धपटन्यायात् क्रियामात्रा हि न क्रिया ।।५०।।

अद्वैत भक्ति करनेवाले योगी के द्वारा की जानेवाली कोई भी क्रिया दग्धवस्त्र के (जले हुए वस्त्र के) समान निःसत्त्व रहती है, अर्थात् वह नामतः क्रियामात्र है, वास्तविक क्रिया नहीं है।।५०।।

क्रियामात्रा क्रिया नैव प्रतिबन्धाय देहिनाम् ।
केवला निर्मला शुद्धा फलकामविवर्जिता ।।५१।।

वह क्रिया निष्काम बुद्धि से की जाने के कारण निर्मल और शुद्ध होती है। अतः वह मनुष्य के प्रति बन्धक नहीं हुआ करती।।५१।।

फलकामप्रयुक्ता हि क्रिया सा प्रतिबध्यते ।
क्रियामात्रा न बन्धायेत्यत्राश्चर्यं किमुच्यताम् ।।५२।।

फलप्राप्ति की भावना से की गयी क्रिया मनुष्य के लिए बन्धक होती है। किन्तु निष्कामबुद्धि से की गयी क्रिया मनुष्य के लिए बन्धक नहीं हुआ करती, इसमें आश्चर्य क्या है?।।५२।।

फलकामतया कर्मकरणं प्रतिबध्यते ।
न कर्ममात्रकरणं तस्मात् कर्मफलं त्यजेत् ।।
त्यक्ते कर्मफलेऽप्यस्य विलासो नैव बाधते ।।५३।।

अत एव फलप्राप्ति की आशा मन में रखकर कर्म करने से बन्धन होता है, किन्तु परमेश्वर के प्रीत्यर्थ किया गया कर्म बन्धक नहीं होता है, अर्थात् कर्म की फलप्राप्ति की आशा को त्यागकर की जानेवाली क्रिया (विलास) जीव के लिए बन्धक नहीं होती है।।५३।।

यथा चित्रपटस्त्रीणां विलासो नैव बाधते ।
तथाऽद्वैतक्रियाणां च विलासो नैव बाधते ।।५४।।

चित्र में प्रदर्शित स्त्री का विलास पुरुष को जैसे बाधक नहीं होता, वैसे ही अद्वैत बुद्धि से की गयी क्रिया बन्धनकारक नहीं होती ।।५४।।

न प्ररोहन्ति बीजानि यथा भ्रष्टानि भूतले ।
अद्वैतभक्तियुक्तानि कर्माणि च तथैव हि ।।५५।।

भुना हुआ बीज जैसे भूमि में अंकुरित नहीं होता, वैसे ही अद्वैत भक्तिपूर्वक निष्काम कर्म करने पर वह फलभोगार्थ जनन-मरणरूप संसारप्राप्ति का कारण नहीं होता।।५५।।

यथा वन्ध्याः स्त्रियो लोके फलाय न कदाचन ।
तथाऽद्वैतक्रिया लोके फलाय न कदाचन ।।५६।।

लोक-व्यवहार में देखा जाता है कि जैसे वन्ध्या स्त्री से सन्तानरूप फल कभी प्राप्त नहीं होता, वैसे ही अद्वैत कर्म से विनाशशील फल की प्राप्ति कभी नहीं होती।।५६।।

वन्ध्या सकामा यदि पुंसि सङ्गमं
करोत्यकामाऽपि फलं यथा नहि ।
भक्तिः सदा सङ्गममीश्वरे मुदा
करोत्यपि स्यात् फलमेव नेतरत् ।।५७।।

वन्ध्या स्त्री कामातुर होकर अथवा कामातुर न होती हुई भी पुरुष से समागम करने पर भी उसे कभी फलप्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार भक्ति सदा-सर्वदा ईश्वर के साथ प्रसन्नतापूर्वक सम्बन्ध करती हुई भी किसी प्रकार का कोई फल नहीं देती।।५७।।

निष्फला निष्फला नैव सफला सफला नहि ।
क्रिया अद्वैतसिद्धान्तभक्तियोगसमाश्रिताः ।।५८।।

अद्वैत भक्तिभावना से की गयी क्रियाओं को निष्फल भी नहीं कह सकते और उन्हें सफल भी नहीं कह सकते, क्योंकि दग्ध हुए वस्त्र का अस्तित्व न रहने से उसे है भी नहीं कह सकते अथवा नहीं है भी नहीं कह सकते ।।५८।।

अद्वैतभक्तिरूपेण दृश्यन्ते तत्प्रभावतः ।
नैष्फल्यमिति सम्भ्रान्तिः साफल्यमिति विभ्रमः ।।५९।।

अद्वैत भक्ति की सफलता अथवा निष्फलता की प्रतीति होना वस्तुतः भ्रम ही है।।५९।।

न नैष्फल्यं न साफल्यं क्रियाणामस्ति वस्तुतः ।
समौ निम्नोन्नतौ नाभिकुचौ चित्रपटे स्त्रियः ।।
क्रियानैष्फल्यसाफल्ये सत्यद्वैते तथा समे ।।६०।।

वस्तुतः अद्वैतज्ञानपूर्वक किया हुआ कर्म न सफल है और न निष्फल ही है। चित्रित स्त्री की नाभि की गहराई अथवा स्तनों की उँचाई एक-सी ही हुआ करती है, किन्तु देखनेवाले को उच्च-नीचभाव भासित होता है, किन्तु वास्तव में वैसा उच्च-नीचभाव है नहीं। उसी प्रकार अद्वैत ज्ञान हो जाने पर उपासना करनेवाले की दृष्टि में क्रिया का निष्फलत्व और सफलत्व दोनों समान ही रहते हैं।।६०।।

यथा नानाविधा नद्यो नानाविधजला अपि ।
स्यन्दमाना इमाः सर्वा अकूपारं समाश्रिताः ।।६१।।

जैसे श्वेत-नील-रक्त वर्णों की विविध नदियाँ बहती हुईं अथाह जलवाले समुद्र से मिलती हैं।।६१।।

तद्रूपेणैव दृश्यन्ते नामरूपे विहाय च ।
तथाऽद्वैतं समाश्रित्य क्रिया नानाविधा अपि ।।६२।।

अर्थात् समुद्र में मिल जाने पर अपने नाम और रूप का परित्याग कर वे नदियाँ समुद्ररूप ही दिखाई देती हैं, वैसे ही नानाविध क्रियाएँ भी अद्वैत ज्ञानपूर्वक करने पर द्वैतरहित हो जाती हैं।।६२।।

अद्वैतभक्तिरूपेण दृश्यन्ते भक्तियोगतः ।
क्रियाकारस्वरूपेण प्रतीताऽप्येव सर्वथा ।।६३।।

नानाविध क्रियाएँ क्रिया के रूप में भासित होती हुईं भी, भक्तिपरिप्लुत होने से अद्वैत भक्तिरूप ही दिखाई देती हैं।।६३।।

न केवलक्रिया ह्यस्य लीलामात्रा स्वभावतः ।
अर्चनार्पणरूपेण तत्सर्वं तु प्रतीयते ।।६४।।

अद्वैत ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति की अनुष्ठित क्रिया किसी फल के उद्देश्य से नहीं हुआ करतीं, वे तो स्वाभाविक क्रीडारूप रहती हैं। उसकी सभी क्रियाएँ लीलारूप रहती हैं, जो शिवार्चन और शिवार्पण के रूप में हुआ करती हैं।।६४।।

लीलया सकलाकारा स्वयं सा भक्तिदेवता ।
क्रीडन्ती स्वात्मनात्मानं भुङ्क्ते चैतच्छिवार्पितम् ।।६५।।

वह सर्वव्यापिनी भक्तिदेवता अपनी लीला से जीवात्मा को अपनी आत्मा के साथ क्रीडा करवाती है और शिवार्पित प्रसाद का भक्षण करती है।।६५।।

अनुरागपरा भक्तिर्विषयेषु विशुद्धधीर्विरागपरा ।
अनुरागेण विरागेण सन्ततं भक्तिरेव निर्लेपा ।।६६।।

निर्मल स्वभाववाली वह भक्ति विषयों पर आसक्त रहे अथवा न रहे, वह सर्वदा निर्लिप्त ही रहती है।।६६।।

अन्तर्लेपबहिर्लेपत्यागग्रहणयोः समा ।
विषयाणां विषयिणामनुरागविरागिणाम् ।।६७।।

पुष्पमाला चन्दनादिविषय, ज्ञान, विषयों पर प्रेम करनेवाला तथा विषयों का परित्याग करनेवाला आदि के सम्बन्ध से अन्तर्लेप और बहिर्लेप आदि के त्याग अथवा ग्रहण करने में उसकी भक्ति समान ही रहती है।।६७।।

तस्माद् भक्तिर्न गृह्णाति न जहाति किमप्यसौ ।
अनुरागेण यद् वस्तु विरागेणाऽपि शाम्भवी ।।६८।।

अतः ईश्वरी भक्ति किसी भी वस्तु का न प्रेम से ग्रहण करती है और न वैराग्य से उसका त्याग ही करती है।।६८।।

यथा तमःप्रकाशाभ्यां युक्तोऽप्याकाश एतयोः ।
निर्लेपतः स शुद्धात्मा तथा ताभ्यां तयोश्च सा ।।६९।।

आकाश में तम (अन्धकार) अथवा प्रकाश के रहने पर भी जैसे आकाश निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार 'भक्ति' प्रेम (आसक्ति) अथवा वैराग्य दोनों से निर्लिप्त रहती है।।६९।।

तमोज्योत्स्नाप्रवृत्तिर्हि रात्रावेव न चाहनि ।
पुण्यपापोभयं कर्ममते भक्तिमते कुतः ।।७०।।

जैसे तम (अन्धकार) अथवा चाँदनी दोनों रात्रि में (रात में) ही होती हैं, दिन में नहीं हुआ करतीं, वैसे ही पुण्य अथवा पाप, दोनों कर्मयोगी को ही लागू होते हैं, भक्तियोगी को (भक्त को) लागू नहीं होते।।७०।।

अहन्यातप एवास्ते तमोज्योत्स्नाविलक्षणे ।
तथा भक्तिपदे शैवं पुण्यपापविलक्षणे ।।७१।।

चन्द्रिका अथवा अन्धकार दोनों को आश्रय न देनेवाले दिन में जैसे सूर्यप्रकाशमात्र रहता है, उसी प्रकार पुण्य अथवा पाप दोनों को आश्रय न देनेवाली भक्ति में शैव का (शिवसम्बन्धिता का) अधिष्ठान रहता है ।।७१।।

अहन्यहस्करो भाति भर्गो भक्तिपदे तयोः ।
प्रभावो ह्यातपस्यैवमित्येतदुभयं मतम् ।।७२।।

दिन में सूर्य रहता है तथा आतप (घाम) भी रहता है, उसी प्रकार भक्तियोग में शिव और शिवप्रभाव दोनों ही रहते हैं। इस तरह भक्तियोग और दिन दोनों का साम्य है।।७२।।

ज्ञानैकलक्षणं शैवमित्येतदुभयं मतम् ।
ज्ञानैकलक्षणं शैवमुष्णलक्षण आतपः ।।७३।।

शैव का मुख्य लक्षण 'ज्ञान' है। सूर्यप्रकाश का लक्षण 'आतप' (घाम) है। अतः दोनों का साम्य है।।७३।।

तमश्चन्द्रिकयोः सख्यमुभयोश्चैक्यलक्षणात् ।
रात्रौ व्यवस्थितत्वाच्च तद्वदज्ञानलक्षणात् ।।७४।।
कर्मण्येव स्थितत्वाच्च सख्यं स्यात् पापपुण्ययोः ।
तस्माद् भक्तिपदे पापपुण्ययोर्नैव वर्तते ।।७५।।

चन्द्रिका (चाँदनी) और अन्धकार (तम) का सामान्य लक्षण यही है कि उष्णत्व का न होना और रात में उनका अस्तित्व रहना। अतः उनका जैसा सख्य (मित्रता) है, वैसे ही अज्ञान और कर्म का अस्तित्व होना ही पाप-पुण्य का सामान्य लक्षण है, उस कारण उन दोनों में भी सख्य (मित्रता) है। इसलिए भक्ति में पाप-पुण्य का संसर्ग नहीं रहता।।७४-७५।।

अत एव परायां तु भक्तौ न च शुभाऽशुभे ।
ज्ञानं प्रसादादेव स्यादित्येषा शाम्भवी स्थितिः ।।७६।।

अत एव पराभक्ति उत्पन्न होने के पश्चात् शुभ अथवा अशुभ का संसर्ग नहीं हो पाता। केवल ईश्वर के प्रसाद से ही ज्ञान प्राप्त होता है, यह वीरशैवों का सिद्धान्त है।।७६।।

ज्ञानादेव हि मोक्षः स्यान्मोक्षादुपरि शाम्भवी ।
भक्तिर्गुरुतरा भाति स्वतन्त्रा निजलीलया ।।७७।।

अद्वैतज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्षप्राप्ति होने के अनन्तर परशिव के प्रति श्रेष्ठ भक्ति स्वलीलापूर्वक स्वतन्त्र तथा जाग्रत् रहती है।।७७।।

धर्मादिपुरुषार्थाणां चतुर्णां परतः परा ।
पञ्चमः पुरुषार्थो हि भक्तिः शैवी सनातनी ।।७८।।

धर्मार्थादि पुरुषार्थचतुष्टय से भिन्न (पृथक्) श्रेष्ठ और सनातन ईश्वरी भक्ति (शैवी भक्ति) को पाँचवाँ पुरुषार्थ ही समझना चाहिए।।७८।।

लोकयोरुभयोरैहिकामुष्मिकपदार्थयोः ।
गमागमौ विनैवास्ते भक्तिः सम्पूर्णवैभवा ।।७९।।

भक्ति अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ विद्यमान होने पर जीवात्मा को इहलोक अथवा परलोक में जाने-आने की आवश्यकता नहीं रहती।।७९।।

भावानुरूपफलदा स्वाश्रितानां फलैषिणाम् ।
उत्तरोत्तररूपेण भक्तिः पूर्णा निरुत्तरा ।।८०।।

भक्ति के आश्रित रहनेवाले लोगों को कदाचित् फलप्राप्ति की इच्छा उत्पन्न हो जाय, तो उन भक्तों के न्यूनाधिक भाव के अनुसार उन्हें वह भक्ति फल भी देती है। पूर्ण भक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई भी श्रेष्ठ नहीं है।।८०।।

केचित् प्राणैः सह शिवपदं केचिदात्मीयकायैः
केचिद् दारैर्निजतनुभवैर्मन्दिरैर्बन्धुवर्गैः ।
ग्रामैर्देशैः सह परिजनैः केचिदन्ये क्रमेण
त्यक्त्वा चैतत् सकलमपि यान्ति स्वयं चैव भक्ताः ।।८१।।

कुछ लोग परमेश्वर के प्रति भक्तियोग के द्वारा शिवपद को प्राणों के सहित पहुँचे, अर्थात् सप्राण ही शिवपद को कुछ लोगों ने प्राप्त किया और कुछ लोग अपने स्थूल शरीरसहित शिवपद को गये, जैसे सन्त तुकाराम। कुछ लोग अपने

कलत्र (स्त्री), पुत्र, आप्त, इष्टजन, परिवार, घर, गाँव, देश के साथ शिवपद को गये, जैसे दाशरथी राघवेन्द्र। कुछ लोग अपना सम्पूर्ण परिवार धन-मकान आदि यहीं पर त्यागकर शिवपद को प्राप्त हुए ।।८१।।

प्राणादिवस्तुविषयेष्वनुरागयुक्ता
भक्ताः प्रयान्ति कतिभिः सह तैः शिवैक्यम् ।
केचिद् विरागनिरता विषयेषु तेषु
त्यक्त्वा च तान् शिवपदं स्वयमेव यान्ति ।।८२।।

जिन लोगों को अपने प्राण आदि वस्तुओं से प्रेम था, वे भक्तियोगी इहलोक से जाते हुए अपने प्राणादि वस्तुओं के सहित शिव के साथ ऐक्य को प्राप्त हुए, अर्थात् शिवपद को प्राप्त हुए। जिन्हें विषयों के प्रति वैराग्य था, वे भक्तयोगी ऐहिक समस्त विषयों को यहीं पर त्यागकर अकेले ही शिवपद को चले गये।।८२।।

भक्तिरेव परमार्थदायिनी भक्तिरेव परतत्त्ववेदिनी ।
भक्तिरेव भवदोषहारिणी भक्तिरेव शिवभावकारिणी ।।८३।।

भक्ति ही परम अर्थ (मोक्ष) प्रदात्री है, भक्ति ही शिवतत्त्व का ज्ञान करा देनेवाली है, भक्ति ही संसारपाश को नष्ट करनेवाली है, अर्थात् जन्म-मरणरूप संसार से मुक्ति देनेवाली है। भक्ति ही जीव-शिव दोनों का ऐक्यबोधन करानेवाली है ।।८३।।

अतः परं भक्तिविलासवैभवे
सदा शिवाऽद्वैतपरायणः स्वयम् ।
प्रसादमासाद्य निजैक्यसौख्यदं
स्वमेव गायन् विचरेत् स्वलीलया ।।८४।।

भक्ति का पूर्ण वैभव प्राप्त होने पर शिव की अद्वैतभावना में आसक्त (तन्मय) होकर, जीव-शिवैक्यभाव को देनेवाला सुखप्रद शिव-प्रसाद (ईश्वरी प्रसाद) का लाभ हो जाने पर शिव का गीत गाते हुए (भजन करते हुए) यथेष्ट सुखपूर्वक सर्वत्र संचार करे।।८४।।

नाहमनात्मा पश्चात् कोऽहं
योऽहं पदस्थ आत्मा साक्षी ।
सोऽहं तत्पतिशिवदासोऽहं
दासोऽहमिति चरेदुपरि ।।८५।।

'मैं शरीर नहीं (जड़ अनात्मवस्तु नहीं) हूँ, तब 'मैं' कौन हूँ? यह अपने मन में विचार करे। जो 'अहम्' शब्दवाच्य साक्षी 'आत्मा' है, वही 'मैं' हूँ — यह निश्चितरूप से समझे और उस जीवात्मा का पति (स्वामी) जो 'शिव' है, उसका 'मैं' 'दास' (सेवक) हूँ — यह अनुसंधान करते हुए संसार (विश्व) में स्वच्छन्दतया निर्भय होकर विचरण करे।।८५।।

इति परमरहस्यं वेदवेदान्तसारं
हतभवभयबाधं षट्स्थलब्रह्मबोधम् ।
गुरुशिवपदभक्त्या प्राप्तविद्याय देवं
विरहितघनभक्तिश्रेयसे नैव देयम् ।।८६।।

यह 'षट्स्थलब्रह्मज्ञान' वेदान्त का सारभूत महान् रहस्य है। इस रहस्य को जानने पर संसार का भय नष्ट हो जाता है, अर्थात् शिवभक्त को संसार से भय नहीं लगता। शिव तथा गुरु की भक्ति करके जिसे ब्रह्मविद्या का लाभ हुआ है, उसीको 'षट्स्थलब्रह्मज्ञान' का उपदेश करे, अर्थात् अनधिकारी को उपदेश न दे। विद्वान् होता हुआ भी जिसे ईश्वर के प्रति भक्ति नहीं है, उसे कभी भी उपदेश नहीं करना चाहिए।।८६।।

नाऽशिष्येभ्यश्चैतेभ्यो वा नाऽभक्तेभ्यः कदाचन ।
ग्राहयेदीदृशानर्थानिति वेदानुशासनम् ।।८७।।

जो शिष्य नहीं है अथवा शिष्य रहने पर भी जो गुरुभक्त नहीं है, उसे भी उक्त ब्रह्मज्ञान का उपदेश न करे, यह वेद की आज्ञा है।।८७।।

क्रियाविश्रान्तिरित्येवं मया संसारनाशिनी ।
अद्वैतभक्तिनिर्वाणनिष्ठा काष्ठा समीरिता ।।८८।।

यह क्रियाविश्रान्ति प्रकरण संसार से मुक्त करनेवाला है, इस क्रियाविश्रान्ति की पराकाष्ठा ही 'अद्वैत भक्ति' के नाम से कही जाती है।।८८।।

श्रीमदैपुरसोमेशलिङ्गायालिङ्गरूपिणे ।
लिङ्गाङ्गैक्यस्वरूपाय नमस्ते लिङ्गमूर्तये ।।८९।।

श्रीमत् (श्रीसम्पन्न) ऐपुर में निवास करनेवाले लिंगस्वरूप भगवान् 'सोमेश' लिंग के प्रति मेरा प्रणाम सतत रहे ।।८९।।

नमः शब्द उमा साक्षाच्छिवशब्दः शिवः स्वयम् ।
अयशब्दस्तयोर्योगः सोमतत्त्वमुपास्महे ।।९०।।

'नमः' शब्द का अर्थ उमा है और 'शिव' शब्द का अर्थ शिव अर्थात् भोलानाथ शंकर विश्वनाथ है तथा 'अय' शब्द का अर्थ है उन दोनों का योग, उस **'सोमलिंग'** की हम उपासना करते हैं।।९०।।

अवाच्यात्मस्वरूपाय शिवभावप्रदायिने ।
नमः सद्गुरुनाथाय षट्स्थलब्रह्ममूर्तये ।।९१।।

जिसके स्वरूप का सम्पूर्णतया वर्णन करना शक्य (संभव) नहीं है, जो जीवरूप धारण किये हुए 'आत्मा' को 'शिवत्व' प्रदान करनेवाला है और जो 'सद्गुरुनाथ षट्स्थलब्रह्म' के आकार में है, उनके चरणकमलों में मेरा सतत प्रणाम रहे।।९१।।

स्वानुभूतिविभवानुगाहिना
मायिदेवविभुना महात्मना ।
श्रीशिवानुभवसूत्रमुत्तरं
तन्त्रमुक्तमतिशोभनं परम् ।।९२।।

अपने परिपक्व अनुभवरूप वैभव से विभूषित महात्मा **मायिदेव** योगीश्वर ने वातुलागम के उत्तरतन्त्रगत अतीव रमणीय कल्याणकारक इस **'शिवानुभवसूत्र'** को भक्तजनकल्याण की कामना से प्रेरित होकर बताने की महती कृपा की है, तदर्थ हम सभी भक्तजन उनके अधमर्ण हैं।।९२।।

एतद् यो वेद सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरति प्रभुः ।
शिवसिद्धान्तकं तन्त्रं शिवाऽद्वैतं शिवं पदम् ।।९३।।

इत्यनुभवसूत्रे षट्स्थलनिर्णये क्रियाविश्रान्तिर्नाम
अष्टमाधिकरणं सम्पूर्णम्।।

जो मनुष्य इस शिवाऽद्वैत प्रतिपादक तथा मोक्षदायक शैव सिद्धान्त शास्त्र को जानता है, वही अपनी अज्ञानग्रन्थि (अज्ञान की गाँठ) को खोल पाता है, अर्थात् उसका अज्ञान नष्ट होता है और उपलब्ध हुए ज्ञान से उसे मोक्ष पद का लाभ होता है।।९३।।

इस प्रकार वातुलागम के उत्तरतन्त्र के शिवानुभवसूत्रोक्त षट्स्थलनिर्णयान्तर्गत क्रियाविश्रान्ति नाम का अष्टम अधिकरण सम्पूर्ण हुआ।।८।।

इत्यनुभवसूत्रे महामहोपाध्याय श्रीसदाशिवशास्त्रिणामात्मजेन वैदिकतिलक-मीमांसाभूषणेन पण्डितश्रीगजाननशास्त्रिमुसलगाँवकरेण विरचिते किरणाख्यानुवादे क्रियाविश्रान्तिर्नाम अष्टमाधिकरणं समाप्तिमगमत्।।

।। श्रीसाम्बसदाशिवार्पणमस्तु ।।

श्लोकार्धानुक्रमणी

अकारो लिङ्गमित्युक्त	५.३२
अघोराख्यामधिष्ठात्रीं	६.१४
अङ्गं च चरलिङ्गेन	५.७८
अङ्गं च लिङ्गं च मुखं च	७.५१
अङ्गं च लिङ्गं च सदेव	७.५२
अङ्गं जीव: परमो लिङ्गं	७.५५
अङ्गं नम: परमसौ शिव	६.४४
अङ्गं प्रकृतिराख्यातं	५.३१
अङ्गमात्मेति निर्णीतं	५.६९
अङ्गस्थलं त्रिधा	४.५
अङ्गस्थलमिति प्राहु:	२.३
अङ्गस्थलाख्या शक्ति	२.२३
अङ्गस्य हृदयं लिङ्गं	५.६९
अङ्गानामधुना तेषां	४.३८
अत एव परायां तु	८.७६
अत: परं भक्तिविलास	८.८४
अथ क्रियासु सर्वासु	७.१
अथ गन्धो रसो रूपं	७.३१
अथ श्रीशम्भुना प्रोक्त	६.१
अथ संभोगसद्भाव	५.१४
अथेश्वरेणोक्तमतीव	५.१
अद्भ्यस्तु पृथ्वीसम्भूति	४.३६
अद्वैतपदरूढाया	८.४६
अद्वैतभक्तिनिर्वाण	८.८८
अद्वैतभक्तियुक्तस्य	८.५०
अद्वैतभक्तियुक्तानि	८.५५
अद्वैतभक्तिरचला	८.४८
अद्वैतभक्तिरूपेण	८.५९,६३
अधिष्ठानं समस्तस्य	२.६
अधोमुखी भवेच्छक्ति	२.३०
अनन्तशक्तिश्च विभो	४.२०
अनयोरैक्यं धीमहि	७.५४
अनलाङ्गमहंहस्तं	६.३८
अनाद्यन्तमजं लिङ्गं	४.२
अनावसरिकं दत्तं	७.२०
अनाहते वकाराख्या	६.४७
अनिच्छाविधिना कार्य	७.५
अनिलाङ्गं मनोहस्तं	६.३७
अनुभवसूत्रं सूत्रं	५.३६
अनुरागपरा भक्ति	८.६६
अनुरागेण यद्वस्तु	८.६८
अनुरागेण विरागेण	८.६६
अन्तर्लेपबहिर्लेप	८.६७
अन्यस्यापगमादन्य	८.११
अन्योन्यप्रार्थकं द्वैतं	८.४५
अपि तर्कप्रमाणाभ्यां	२.३१
अप्रच्युतात्मभेदेन	२.१४
अभिधत्ते द्विमात्राह्वो	७.३०
अभिन्नरूपतोऽद्वैत	८.४७
अमाये शिवमार्गेऽस्मिन्	८.१३
अमिति ब्रह्मसन्मात्रं	४.४
अयशब्दस्तयोर्योग:	८.९०
अयेति तादात्म्यपदं	६.४६
अयं शिवाद्वैतपरो	१.२४
अर्चनार्पणरूपेण	८.६४
अर्पितं च प्रसादं च	७.६८
अवधानात्मिका भक्ति	५.७५
अवाच्यात्मस्वरूपाय	१.२

अवाच्यात्मस्वरूपाय	८.९१	आत्मसङ्गमयं साक्षात्	७.१२
अविद्याकृतकं सर्व	५.२५	आत्मा क्षेत्रं भवेद्	५.६७
अविद्याहृदयग्रन्थि	५.४९	आत्माङ्गं भावहस्तं	६.३५
असत्यं भ्रान्तिसंसिद्धं	५.२५	आत्माङ्गमैक्यमेव	४.३८
असौ जुष्टस्ततस्तेन	८.३३	आत्माङ्गार्पणमेवात्र	७.१२
अस्ति चेदप्रमाणं	६.११	आत्मानं च पृथक्कृत्वा	८.३३
अस्ति तत्राह देवेशो	१.२७	आत्मायं केवलः शुद्धः	५.३
अस्तीत्यारभ्यते वस्तु	६.३१	आत्मार्पणं भवेद् भक्ति	
अस्माभिरादरेणैव	५.८९	आत्मोपभोगजातानि	७.९
अस्य जीवस्य कर्माणि	५.४९	आत्मोपभोगविषयाणि	४.३१
अस्यात्मनः क्रियाः सर्वा	८.२	आत्मोपासक ईश्वरः	८.३४
अस्यात्मनस्तया भक्त्या	५.७९	आद्यन्तशून्यममलं	३.२८
अस्यार्थो भावलिङ्गं स्यात्	३.१२	आधारं सर्वशक्तीनां	२.७
अस्याः स्वरूपसद्भावात्	५.७१	आनन्द एव स्वयमर्पणं	७.५२
अहन्यहस्करो भाति	८.७२	आनन्दमात्रमनयोः	५.२८
अहन्यातप एवास्ते	८.७१	आनन्दरूपमाचार्यै	३.११
अहं कर्ता समस्तस्य	८.२०	आनन्दस्तु भवेत्तृप्ति	७.११
अहङ्कारात्ततो बुद्धिः	६.३०	आनन्दाकारतो भाति	४.२५
अहं तदित्यहङ्कारो	६.३२	आनन्दाकारभक्ति	७.४९
अहमिति शिव एव च	८.९	आप्तकामस्य सुखिनः	८.५
अं भवेत् परमं ब्रह्म	४.३	आलयः सर्वभूतानां	२.८
आचारलिङ्गं गुरुरूप	५.८६	आविर्बभूवादिगुरूपमन्योः	१.१३
आचारलिङ्गमश्रान्तं	६.७	आविर्भूतेरथैतेषा	४.३५
आचारलिङ्गमित्येव	३.२२	आश्रयत्वात् स्वनैर्मल्याद्	६.१७
आचारलिङ्गमित्येवं	३.४५	आस्तिक्यबुद्धिनियम	४.३२
आचारलिङ्गसंज्ञं तु	३.४२	आस्ते दग्धपटन्यायात्	८.५०
आचारलिङ्गसंयुक्तं	५.७२	इच्छाज्ञानक्रियारूपाः	३.२७
आचाराख्यं नकारः	६.४९	इच्छाशक्तिश्च विद्या स्यात्	३.२५
आचारायार्पिता पृथ्वी	७.४४	इच्छास्वशक्तिपरिजृम्भित	३.३१
आचारे दिव्यलिङ्गे	७.४५	इति परमरहस्यं	८.८६
आचार्यलक्षणपरिस्फुट	१.१४	इतः परं न वक्तव्य	४.४५
आचार्यस्य कलेश्वराह्वय	१.१५	इतः परं न वक्तव्य	५.१७
आज्ञाचक्रे महादेवी	६.४८	इत्यनेनाभिधानेन	८.२०
आत्मनाऽऽकाशसंभूति	४.३५	इत्यनेनाभिधानेन	८.२१
आत्मनोऽवसरे दत्त	७.२१	इत्युक्त्वा पुरुषस्यास्य	५.३७

इत्येतैर्लक्षणैः षड्भिः	५.६	एकाक्षराभिधेयो	१.७
इत्येवं त्रिप्रकारैस्तत्	४.११	एका वेधात्मिका	५.३९
इदमिति वपुषा न तेन	८.९	एकैकस्य पदार्थस्य	७.३२
इदानीमथ वक्ष्यामि	३.१	एकोऽयं पुरुषो विश्व	५.६३
इन्द्रियाकारभावेन	८.२६	एकं लिङ्गस्थलं प्रोक्त	२.१०
इन्द्रियाणां तु सर्वेषां	६.१८	एतच्चतुर्विधं कर्म	८.२९
इन्द्रियादागतं किञ्चि	७.६२	एतदर्पणसद्भाव	७.६७
इष्टमर्थं स्वभक्ताना	३.१०	एतद्यो वेत्ति सोऽविद्या	१.३९
इष्टलिङ्गं तथा चैव	५.५९	एतद्यो वेद सोऽविद्या	२.३४
इष्टलिङ्गं तु बाह्याङ्गे	६.५	एतद्यो वेद सोऽविद्या	३.४६
इष्टलिङ्गं भवत्येव	३.२०	एतद्यो वेद सोऽविद्या	४.४६
इष्टलिङ्गं भवेत्स्थूल	३.१३	एतद्यो वेद सोऽविद्या	५.९०
इष्टलिङ्गमिति प्रोक्त	३.१०	एतद्यो वेद सोऽविद्या	६.५६
इष्टलिङ्गस्थलं चैव	३.१७	एतद्यो वेद सोऽविद्या	७.६९
इष्टलिङ्गार्पितं शुद्धं	७.२२	एतद्यो वेद सोऽविद्या	८.९३
इष्टावाप्तिकरं साक्षात्	३.९	एतल्लिङ्गमुखं मम	६.२१
इष्टिःपूजा तया नित्य	३.९	एतल्लिङ्गाङ्गसंयोगः	५.४६
ईश्वरीमीश्वरस्यैना	६.१२	एतस्य सङ्गमेशार्य	१.१८
ईश्वरीं वामदेवाख्यां	६.१५	एतेनैव विजानाति	७.६३
उत्तरोत्तररूपेण	८.८०	एतेषामेव सर्वार्थं	१.३३
उदभूत् कारणत्वेन	३.४१	एतेषां लक्षणं वक्ष्ये	६.३०
उपगच्छत्यसौ देही	५.२०	एवमङ्गं च हस्तं च	६.४१
उपदेशप्रसिद्ध्यर्थ	५.१८	एवमङ्गस्थलं प्रोक्तं	४.४५
उपमन्युशिवाचार्य	१.१२	एवमद्वैतभक्त्यैव	८.३६
उपासकत्वतश्चात्मा	५.१०	एवमर्चनमीशस्य	८.८
उपासनैव संयोगः	५.६४	एवमष्टाधिकरणं	१.३९
उपास्यत्वं तथोपासकत्वं	२.१४	एवमेव क्रमात् प्रोक्त	४.३४
उपास्यत्वं भवेच्छक्त्या	२.३२	एवमेव स्वरूपं च	३.३४
उपास्योपासकत्वेन	२.१३	एवम्भूतेषु सर्वेषु	७.३५
उपास्योपासकौ पूज्य	५.१३	एवं लिङ्गस्थलं प्रोक्तं	३.२८
एकधा च त्रिधा षड्धा	७.५७	एवं लिङ्गस्थलं प्रोक्तं	३.४५
एकमेकं स्थलं भूयो	३.१६	एवं लिङ्गाङ्गसंयोग	५.६६
एकमेव परं ब्रह्म	२.२	एवं लिङ्गाङ्गसंयोग	५.८९
एकमेव परं लिङ्गं	६.४	एवं लिङ्गार्पितं सर्व	७.६४
एकस्मिन् वस्तुनि रता	७.३३	एवं षडक्षरमयं	६.५४

एवं षडक्षराण्येव ६.५२
एवं षडङ्गस्थलरूपतो ७.४३
एवं हि षड्विधं भूतं ३.२२
ऐक्यस्थलं तया चात्म ५.८१
ऐक्यस्थलमिति प्राहु: ६.३६
ऐक्यस्थलादिभक्त: ४.३७
ऐक्यस्य भावो हस्त: ६.३५
ऐक्याङ्गं भासि लिङ्गे ७.५०
ऐक्यात्मकोऽयं परिणाम ७.४२
ऐक्यादिभक्तपर्यन्ता ४.३७
ऐक्यं च शरणं नाम ४.४४
ऐक्यं तु शरणं नाम ४.१७
ओमिति जगदखिलं स्याद् ७.२९
ॐकार: परिपूर्णत्वात् ६.५२
कथं निर्लेपतां याति ७.५८
कथ्यते शिवसिद्धान्त १.२८-३२
कर्तरी शिवदीक्षा ५.४३
कर्ता कारयिता कर्म ८.३७
कर्पूरगन्धयोर्वायु ५.५६
कर्मण्येव स्थितत्वाच्च ८.७५
कर्मात्मना सकलतत्त्व ३.३३
कलासंयोग इत्युक्ता ५.२९
कल्याणदाह्वय: श्रीमान् १.२२
कस्तूरीहिमकुङ्कुमानि ८.१९
कामक्रोधादय: सर्वे ८.४३
कामिकाद्या वातुलान्ता: १.२५
कारणं हि भवेदैक्यं ४.१४
कारणे कारणत्वेन ६.१९
किन्त्वेतेषां स्थलानां ३.३५
कुर्यात् सिद्धरस: ८.१७
कृत्वा भूय उभे समे ८.३५
कृत्वा शैवीं परां दीक्षां ५.४३
केचित्प्राणै: सह शिवपदं ८.८१
केचिद्विरागनिरता ८.८२
केवला निर्मला शुद्धा ८.५१
कोऽहमित्यब्रवीद् देही ५.२४
क: कं भजति भक्त्या ८.४५
क्रमात् प्रवर्तते ४.२१
क्रिया अद्वैतसिद्धान्त ८.५८
क्रियाकारस्वरूपेण ८.६३
क्रियात्मकं प्रसादि ४.४३
क्रियात्मिका परा काचिद् ५.४०
क्रियादीक्षाबलेनायं ५.५८
क्रियानैष्फल्यसाफल्ये ८.६०
क्रिया मतार्पणं किञ्चित् ७.२
क्रियामन्त्रप्रयोगस्तु ५.३०
क्रियामात्रा क्रिया नैव ८.५१
क्रियामात्रा न बन्धाय ८.५२
क्रियार्पणं वदाम्यत्र ७.६
क्रियाविश्रान्तिमाचक्षे ८.९
क्रियाविश्रान्तिरित्येव ८.८८
क्रियाविश्रान्तिरेवात्र ८.३
क्रियाविश्रान्तिसंज्ञा १.३९
क्रीडन्तीं स्वात्मनात्मानं ८.६५
क्रीडया देवता भुङ्क्ते ८.२६
क्षीरे सर्पिरिव स्रोतस्य ५.४७
गन्धादय इमे मात्रा: ७.३३
गन्धे पुष्पादि गन्धस्य ८.२५
गमागमौ विनैवास्ते ८.७९
गीतासारै: समस्तैश्च १.३१
गुरु: संयोजयामास ५.५२
गुरुणोदीरिता कर्णे ५.४१
गुरुपदनिजभक्त: १.२३
गुरुलिङ्गं तथाचार ३.२०
गुरुलिङ्गसमायुक्त ५.७४
गुरुलिङ्गस्थले तस्मिन् ३.४२
गुरुशिवपदभक्त्या ८.८६
गुरुशिष्यौ शिवात्मानौ ५.१३
गुरुस्तत्त्वमसीत्याह ५.२४
गुरूक्त्या स्वानुभूत्या च १.३२

गुरूपदेशतः साध्यं	७.६७
गुरूपदेशसंसिद्धं	६.२०
गुरूपदेशानुभवप्रसिद्धं	५.१
ग्रामैर्देशैः सह परिजनैः	८.८१
ग्राहकस्य तथा ग्राह्यं	८.३९
ग्राहयेदीदृशानर्थान्	८.८७
घ्राणस्य घ्राणमाचार	६.२५
घ्राणस्य चैव पायोश्च	६.१६
घ्रातव्यं द्रव्यमप्यर्पण	७.४५
चक्रे दीक्षां महाशैवी	५.३७
चक्षुषश्च तथा चक्षुः	६.२६
चक्षुषश्चरणस्यापि	६.१४
चतुर्थी परमा भक्ति	४.२६
चतुर्थं कीर्त्यते तद्वद्	१.३५
चतुर्थं तु वकारः स्याच्	६.५१
चन्दनादिमयो गन्धो	७.३३
चिच्छक्तिश्च परा शक्ति	३.२६
चित्तं भक्तस्य हस्तः स्यात्	६.३३
चित्तं स्थैर्यगुणेनैव	६.३२
चित्तेन धार्यमधिरूढ	३.३३
चिन्मात्रं परमं साक्षात्	२.१६
छायातपौ जीवशिवावसौ	५.३५
छित्वाऽविद्यामहापाशं	५.४३
जगतो यद्भवेत् तत्त्वं	२.६
जयति परमशैवः	१.२३
जयति षडङ्गसुभक्ति	१.१
जयति षडध्वविशुद्धि	१.१
जलाङ्गं बुद्धिहस्तं च	६.३९
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि	७.२४
जाग्रदित्युदितावस्था	४.९
जातः प्राथमिकः श्रीमान्	१.१२
जातः शिवैकगतमानस	१.१७
जिह्वाङ्गे गुरुलिङ्गं तु	६.७
जिह्वायाश्च तथा जिह्वा	६.२५
जीवात्मा परमात्मा च	८.४०
जीवात्मा विश्व एव स्यात्	५.६१
जीवेशैक्यपदं विभज्य	८.३४
जीवः सविता देवः परमो	७.५४
ज्ञानकर्मात्मनां खाना	६.१७
ज्ञानप्रकाशबलतः	४.२९
ज्ञानात्मकतया त्रीणि	४.४२
ज्ञानात्मकस्थलं ह्यैक्यं	४.४३
ज्ञानादेव हि मोक्षः	८.७७
ज्ञानान्मनः समुत्पन्नं	६.२९
ज्ञानान्मोक्षस्तैस्त्रिभि	८.३०
ज्ञानार्पणमतो वक्ष्ये	७.२६
ज्ञानैकलक्षणं शैव	८.७३
ज्ञानैकलक्षणं शैव	८.७३
ज्ञानं जानाति तंनित्यं	६.३१
ज्ञानं प्रसादादेव स्या	८.७६
ज्ञानं ब्रूते भक्तिः कुरुते	८.३२
ज्ञानं हस्तो भवेदस्य -	३.३४
ज्योतिर्मयं निजमखण्ड	३.२९
ज्वाला तमस्विनी	२.२४
तच्छिखालिङ्गमित्युक्तं	५.५५
तच्छिवार्चनमेव स्याद्	८.६
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योति	५.५१
ततः पञ्चाक्षरी विद्या	६.४२
ततस्तल्लिङ्गमस्याङ्गे	५.५२
ततोऽर्पणविधानेऽत्र	७.८
ततो लिङ्गाङ्गसंयोग	५.१७
तत्क्रियार्पणमित्याहु	७.४
तत्तदङ्गस्थलं साक्षात्	५.९
तत्तदर्पणतो लब्धं	७.२३
तत्तदाकारतो भाति	४.२२
तत्प्रसादं तु भोक्तव्यं	७.६२
तत्प्राणेश्वन्तर्मनसो	३.८
तत्र तावदिदं पूर्वं	१.३५
तत्र प्रतिष्ठिता साक्षात्	५.८०
तत्र संनिहिता भक्तिः	५.७४

तत्र स्थिता सती भक्तिः ५.७२
तत्र स्वानुभवाकारा ५.७८
तत्रैव चार्पितं सर्व ७.२८
तत्रैव सुस्थिता भक्ति ५.७६
तत्रैवावस्थिता भक्तिः ५.८२
तत्त्वानां महदादीनां २.३
तथा कर्मेन्द्रियाङ्गेषु ६.८
तथाङ्गं जीव एव २.१९
तथा च चरलिङ्गं च ३.१९
तथा चाङ्गस्थलं भक्त्या ५.८
तथा द्वैतक्रियाणां च ८.५४
तथाऽद्वैतक्रिया लोके ८.५६
तथाऽद्वैतं समाश्रित्य ८.६२
तथा भक्तिपदे शैवं ८.७१
तथा मन्त्रमयं दग्धं ५.५४
तथा माहेश्वरी शक्ति २.२४
तथा शिवप्रसादस्य ७.१६
तथैवैक्यादिभक्तान्ते ४.२४
तदर्थंस्त्विष्टलिङ्गं स्यात् ३.१२
तदाहुः स्थलमद्वैतं २.९
तदिदानीं प्रवक्ष्यामि २.१
तदिष्टलिङ्गमित्याह ३.११
तदुपासकरूपत्वा ३.३६
तदुपासकरूपत्वा ३.३७
तदुपासकरूपत्वा ३.३९
तदुपासकरूपत्वात् ३.४०
तदुपासकरूपत्वाद् ३.४२-४३
तदेव लिङ्गमित्युक्तं ३.३
तद्भक्त्यैव तथा चास्य ५.७१
तद्भावलक्षणां भक्तिं ५.४७
तद्रूपं पुनरर्चाकाल ७.१९
तद्रूपेणैव दृश्यन्ते ८.६२
तद्वत् पदार्थरूपं ७.५५
तद्विवक्षा मया कार्या १.३४
तनुत्रयगतानादि ५.५२
तन्त्रोत्तरं प्रदीपाख्यं १.२७
तमश्चन्द्रिकयोः सख्य ८.७४
तमोज्योत्स्नाप्रवृत्तिर्हि ८.७०
तया महेश्वरं नाम ५.७३
तयोमया सार्धमुपासितं १.६
तयोः कथं वियोगः स्यात् ५.७०
तयोः कारणभूतं २.५
तयोः प्रेरकभावेन ५.३१
तयोः शिवात्मनोः सम्यग् ५.२
तयोः संयोग इत्येव ५.३३
तल्लिङ्गमुखमित्याहुः ६.२४
तस्मात् कल्याणदः श्रीमान् १.२१
तस्मात्तत्कृतकभ्रान्ति ५.२६
तस्मात्तयोरभावे तु ८.१२
तस्मात् सवासना २.२५
तस्मादङ्गस्थलं साक्षाद् ५.६
तस्मादद्वैतगां भक्ति ८.४४
तस्मादर्पणसद्भाव ७.३१
तस्माद्भक्तिपदे पाप ८.७५
तस्माद्भक्तिर्न गृह्णाति ८.६८
तस्माल्लिङ्गस्थले शक्ति २.३२
तस्माल्लिङ्गाङ्गसंयोगात् ५.१६
तस्मिन् दृष्टे परे लिङ्गे ५.४८
तस्य प्रभोरुदभवत् १.१४
तस्य प्रसादेन तपोबलेन १.११
तस्यास्य परमेशस्य १.२१
तां तां कुर्यान्महादेव ७.७
तामाकृष्य यथान्यायं ५.४५
तामैपुरीमहं वन्दे १.९
तिले तैलमिवाभाति ५.४६
तृतीयमिष्टलिङ्गं स्यात् ३.६
तृतीयमुच्यते साक्षात् १.३६
तृतीयाऽनुभवाकारा ४.२६
तेजोनिधिं परमपार ३.३२
तेन ज्ञानं पूर्वं भक्ति ८.३२

तेषु वातुलसंज्ञोऽयं	१.२५	न कर्ताऽहं न साक्षी च	८.२२
तेष्वेषु खेषु सर्वेषु	६.२०	न कर्ममात्रकरणं	८.५३
तैजसः प्राणलिङ्गि स्यात्	४.१६	नकारो रुधिरे स्थाति	६.५३
त्यक्ते कर्मफलेऽप्यस्य	८.५३	न केवलक्रिया हास्य	८.६४
त्यागाङ्गं तु तृतीयं	४.६	न च द्वैतात्मिकां भक्तिं	८.४४
त्यागाङ्गं बहिरङ्गत्वात्	५.६०	न नेत्रपादयोर्भेदो	६.१०
त्यागाङ्गं भवतीत्येवं	४.१३	न नैष्फल्यं न साफल्यं	८.६०
त्यागाङ्गं विश्व एव स्यात्	४.१०	न प्ररोहन्ति बीजानि	८.५५
त्यागाङ्गं स्थूलमित्युक्त	४.८	न बन्धे मोचने चापि	८.१०
त्रिदीक्षापथगा तीर्थं	१.८	न ममेदं जगत्सर्वं	७.३०
त्रिविधं प्रति यो वेद	७.२५	नमःपदं तत्खलु	६.४६
त्रिषु धामसु यद्भोग्यं	७.२५	नमश्शब्द उमा साक्षा	८.९०
त्रिष्वङ्गेष्वस्य शिष्यस्य	५.५६	नमः शिवाय स्वयमात्तधाम्ने	१.३
त्वक्पाणिस्पर्शवायूना	६.१३	नमः शिवायै शिववल्लभायै	१.४
त्वगङ्गे चरलिङ्गं तु	६.६	नमः सद्गुरुनाथाय	१.२
त्वचस्त्वक् चररूपस्य	६.२६	नमः सद्गुरुनाथाय	८.९१
ददाति नित्यकल्याणं	१.१९	न योगो न तपो नार्चा	८.१३
दर्शयामास शिष्यस्य	५.४८	न राजसो गुणो भक्तौ	८.१६
दीक्षात्रयेण निर्दग्धा	५.५३	नवलिङ्गान्यविज्ञाय	७.५८
दीयते क्षीयते यस्मात्	५.३८	न सात्त्विकगुणोऽपि	८.१६
दीयते लिङ्गसंबन्धः	५.३८	नादो लिङ्गमितिं प्रोक्तौ	५.२९
देव्यै रहस्यरूपेण	८.१	नादौ लेखायते चान्ते	८.२८
देहप्राणात्मरूपेण	३.१५	नान्यश्चिह्वादिकं लिङ्गं	३.२
देहं ममेति यो ध्यायेत्	६.५५	नामरूपक्रियाभिन्न	४.१९
देहेन्द्रियादिसंघाते	५.२२	नाम्ना कल्याणदः श्रीमान्	१.१८
द्रव्याण्येतानि सर्वाणि	७.३६	नाशिवस्य शिवोपास्ति	२.१५
द्वयाभिधानराहित्यं	८.२२	नाशिष्येभ्यश्चैतेभ्यो वा	८.८७
द्वितीयं तु मकारः स्यात्	६.५१	नासिकागुदयोर्भेदो	६.११
द्वेधा लिङ्गार्पणविधिः	७.२	नासिका नासिकायाश्च	६.२३
द्वैतभक्तिः प्रपञ्चाख्या	८.४८	नाहं कर्ताऽस्य कर्तृत्वं	८.२१
द्वैतभक्तिनिवृत्तौ हि	८.४९	नाहं त्वमप्रथितशब्द	४.२८
द्वैतभक्त्या हि संसार	८.४७	नाहमनात्मा पश्चात्कोऽहं	८.८५
द्वैतस्य विलयश्चैव	५.६४	नित्यं लिङ्गाङ्गसंयोग	५.२६
धर्मादिपुरुषार्थाणां	८.७८	नित्यः निरञ्जनः शान्त	५.३
धीमहि पदमित्येषा	७.५३	निर्लेपतः स शुद्धात्मा	८.६९

निवृत्तिः सैव विश्रान्ति ५.६५
निवृत्तिः स्यात् क्रियाशक्ति ३.२६
निष्कलं भावलिङ्गं स्या ३.६
निष्ठाभक्तिप्रभावप्रणिहित ७.४६
निष्फला निष्फला नैव ८.५८
नेत्रे चाल्पविलोकिते ८.३५
नैव लोप्या शिलालेखा ८.२८
नैष्ठिकी भक्तिरित्येव ५.७३
नैष्फल्यमिति सम्भ्रान्तिः ८.५९
पक्ष्मणोरन्तरा तारा ७.६०
पञ्चमं चैव लिङ्गाङ्ग १.३७
पञ्चमः पुरुषार्थो हि ८.७८
पञ्चमी नैष्ठिकी भक्तिः ४.२७
पञ्चाक्षरी परा विद्या ६.४३
पदार्थकामः पूजायां ७.१८
पदार्थरूपो जीवश्च ७.५६
परनिर्वाणनिष्ठानां २.९
परमात्मा भवेत् प्राज्ञ ५.६१
परस्परानुबन्धेन ८.१२
परिणामः पदार्था हि ७.३२
पादः पादस्य जिह्वाया ६.२३
पापान्नरकः पुण्यात् ८.३०
पाशानशेषान् कर्तर्या ५.४३
पुण्यपापोभयं कर्म ८.७०
पुरुषाख्यां विदुः पूर्वे ६.१३
पूजकत्वेन चात्मानं ५.९
पूजादौ पूजान्ते भवे ७.१७
पूजान्ते पूजादौ प्रपठेत् ७.१७
पृथग्लक्षणसद्भाव ४.२७
प्रकाशते ततोऽमुष्य ६.३
प्रणष्टेष्वेषु सर्वेषु ८.६
प्रतीयते तथा चैव २.१२
प्रत्येकं पृथगर्थत्वात् ४.११
प्रत्येकं लिङ्गमस्यैव ६.२४
प्रथमं भावलिङ्गं स्याद् ३.५
प्रपञ्चवृद्ध्यपेक्षा हि २.२९
प्रपञ्चसंक्षयापेक्षा २.३०
प्रभावो ह्यातपस्यैव ८.७२
प्रवृत्ता लौकिकाः सर्वे ८.५
प्रशस्यते सोम इति प्रतीत्या १.६
प्रसाद इत्यष्टविधस्थलानि ७.५१
प्रसादकायः पूजान्ते ७.१८
प्रसादभूतं रसमानुकूल्य ७.३८
प्रसादमादरेणैव ७.२७
प्रसादमासाद्य निजैक्य ८.८४
प्रसादलिङ्गं च महात्म ५.८६
प्रसादलिङ्गसंज्ञं तु ३.३७
प्रसादलिङ्गसंयुक्त ५.८०
प्रसादस्तृप्तिरेव स्यात् ७.६६
प्रसादादेव सा भक्तिः ८.३१
प्रसादायार्पितं व्योम ७.४४
प्रसादिनस्तथा हस्तो ६.३३
प्रसादिस्थलमित्याहु ६.३९
प्रसिद्ध्यति ततः सर्व ८.३६
प्राज्ञ एव भवेदैक्य ४.१५
प्राज्ञः सुषुप्त्यवस्थायां ५.६२
प्राणलिङ्गं भवत्येव ३.१९
प्राणलिङ्गं मनोग्राह्यं ३.७
प्राणलिङ्गि प्रसादीति ४.१२
प्राणलिङ्गिस्थलं चास्य ५.७७
प्राणलिङ्गिस्थलं साक्षात् ६.३८
प्राणादिवस्तुविषये ८.८२
प्राणेन्द्रियादिषु ममा ४.३०
प्रादुर्भूते स्थले ३.३८
प्रोक्ताऽऽनन्दात्मिका भक्ति ५.७९
प्रोच्यते परमार्थज्ञैः ८.३
फलकामतया कर्म ८.५३
फलकामप्रयुक्ता हि ८.५२
बन्धमुक्त्योरभावे हि ८.१०
बन्धे सति विमुक्तिः स्यात् ८.११

बभौ ह्रस्वद्वयं दीर्घं	१.५	भुङ्क्ते यत्नात् स्वयं	७.२३
बहिरङ्गार्पणे रूप	७.११	भुङ्क्ते सदा सन्निहितः	७.३७
बिन्दुनादकला भेदात्	४.४०	भूम्यङ्गं चित्तहस्तं च	६.४०
बिन्दुनादकलाभेदाल्	३.१६	भेदो नानन्दरसयोर्न	६.१०
बीजरूपा परा भक्तिः	५.६७	भोक्ता भोजयिता भोगो	८.३८
ब्रह्मा हरिश्च रुद्रश्च	५.८८	भोगाङ्गमन्तरङ्गत्वात्	५.६०
भक्तं माहेश्वरं चैव	५.८७	मधुरादिषु यत् षट्सु	४.२२
भक्तस्थलमिति प्राहुः	६.४१	मनोहस्तो भवत्येव	६.३४
भक्तादिषट्स्थलानां च	६.२८	मन्त्रदीक्षाबलेनैव	५.५८
भक्तिः सत्त्वगुणस्था	८.१४	मन्त्रो लिङ्गमिति प्रोक्तः	५.३०
भक्तिः सदा सङ्गममीश्वरे	८.५७	मलप्रहारिणी नाम	१.८
भक्तिः समरसाकारा	४.२५	महान् घटप्रभेदेन	२.११
भक्तिः स्वात्मगुणात्मिका	८.१९	महालिङ्गं प्रसादाख्य	३.१८
भक्तिक्रियाचरणयैव	४.३३	महालिङ्गं प्रसादाख्य	३.२१
भक्तिरेव परमार्थदायिनी	८.८३	महालिङ्गं प्रसादाख्य	३.४४
भक्तिरेव भवदोषहारिणी	८.८३	महालिङ्गसमायुक्त	५.८२
भक्तिर्गरीयसी भाति	८.४९	महालिङ्गस्थलादीनां	३.३४
भक्तिर्गुरुतरा भाति	८.७७	मायया कथ्यते मायी	१.२०
भक्तिर्महत्तरा शुद्धा	२.२५	मायिनो यः परो देवो	१.२०
भक्तिवैचित्र्यतो रूप	२.२९	माहेशानां स्वभक्तानां	१.१९
भक्तिवैचित्र्यसंयोग	४.१९	माहेश्वरं जलाङ्गं	४.३९
भक्तोऽयमात्मा स्वयमेव	७.३७	माहेश्वरं भक्तमिति	४.१७
भक्त्या तयाऽस्य जीवस्य	५.७५	माहेश्वरं भक्तमिति	४.४४
भक्त्यादिषु स्थलेष्वात्मा	५.८५	माहेश्वरस्थलं भक्त	४.१३
भक्त्यादीनि प्रपद्यन्ते	५.८४	माहेश्वरस्थलं साक्षात्	६.४०
भवत्येव न सन्देहः	८.८	माहेश्वरोऽयं गुरुलिङ्ग	७.३८
भागद्वयं समाख्यातं	१.२६	मिथ्यैव सत्यमिव	४.३३
भावलिङ्गं तथैवास्मि	६.५	मुक्तेः परतरा भक्तिः	५.१६
भावलिङ्गं परं तत्त्वं	३.१३	मुखं प्रसादलिङ्गस्य	६.२७
भावलिङ्गं भवत्येव	३.१८	मूलाधारे नकाराख्या	६.४७
भावलिङ्गस्थलं द्वेधा	३.१७	य एष नित्यं शरण	७.४१
भावलिङ्गे सदा प्राज्ञ	७.१४	यकारः स्थाति मज्जायां	६.५४
भावानुरूपफलदा	८.८०	यकारः स्यात् प्रसादाख्य	६.५०
भावैकगम्यमजडं	३.२८	यत्तत्क्षीरघृतारणीहुत	८.३४
भुङ्क्ते प्रसादात्मतयो	७.४०	यत्तत्त्वं भवति प्राज्ञैः	२.७

यत्पुरं वपुरैश्वर्य १.७
यत्रादौ स्थीयते विश्वं २.४
यथा कला तथा भावो ५.४४
यथा कालिकया दृष्टौ ७.६०
यथा कालोचितैर्द्रव्यै ७.३
यथा चित्रपटस्त्रीणां ८.५४
यथा ज्ञानेन्द्रियाङ्गेषु ६.८
यथा तम:प्रकाशाभ्यां ८.६९
यथा नानाविधा नद्यो ८.६१
यथा पुरत्रयं दग्धं ५.५३
यथा भुक्तिक्रिया पुंसि ७.१५
यथा मनस्तथा दृष्टिं ५.४४
यथा महानलज्वाला २.२३
यथा लिङ्गस्थलं शक्त्या ५.७
यथावदानुपूर्व्येण ६.४२
यथा वन्ध्या: स्त्रियो लोके ८.५६
यथाशक्तिर्महालिङ्गा ४.२४
यथा सिद्धरसो लोह ८.१८
यथा स्थलं द्विधाभूतं २.१९
यथैवाङ्कुरतो बीजं ८.३१
यदामनन्ति वेदाश्च ६.२१
यदुक्तं देवदेवेन २.१
यद्गच्छति महाभक्त्या ४.२
यद्भवेत् परमं ब्रह्म २.८
यद्भुक्तमर्पितं लिङ्गे ८.२४
यद्यत्स्वरूपमाधत्ते ५.१०
यद्यत्स्वरूपमाधत्ते ५.११
यद्यत्स्वरूपमाधत्ते ५.१२
यद्यद्रूपमुपास्यत्वाद् ५.९
यद्यल्लिङ्गस्थलं साक्षा ५.८
यद्रूपं वस्तु नामार्चा ७.१९
यद्रूपमर्पितं लिङ्गे ७.१४
यस्यां सन्निहित: प्रीत्या १.९
यस्या मात्रात्रयं नाम १.५
या या क्रिया विधातव्या ७.६
युक्ते समस्तविषये ४.२९
युगपत् षट्स्थलावाप्ति: ५.८३
येन गन्धरसौ रूप ७.६३
यैश्च कैश्चिदपि श्लोकै १.३४
योगाङ्गं कारणं प्रोक्तं ४.८
योगाङ्गं प्रथमं प्रोक्तं ४.५
योगाङ्गं प्राज्ञ एव ४.१०
योगाङ्गमात्मनोऽङ्गत्वात् ५.५९
योगाङ्गमैक्यं शरण ४.१२
योगाङ्गे भावलिङ्गं तु ५.५७
योगेन तु परा भक्ति ५.७०
योऽसौ नित्यं प्रसादिस्थल ७.४७
य: स्वेच्छया ह्यैपुरसोमनाथ १.१३
रसनाया उपस्थस्य ६.१५
रहस्यं सारभूतार्थ ४.१
रात्रौ व्यवस्थित्वाच्च ८.७४
रुचिद्रव्यार्पक: साक्षात् ७.१३
रूपं कर्पूरमाख्यातं ५.५५
रूपं पदार्थं शिवलिङ्ग ७.३९
रूपद्रव्यार्पको विश्व ७.१३
रूपान्तरं न भोक्तव्यं ७.१५
रूप्यतेऽङ्गमिति प्राज्ञै ४.४
रौप्यं ताम्रमयोघनं ८.१७
लयगत्यर्थयोर्हेतु ३.४
लिङ्गं गुरूपदेशेन ६.२
लिङ्गं तत्पदमाख्यात ५.२७
लिङ्गं परं हृद्गगनं ५.३५
लिङ्गं षट्स्थलपरमब्रह्म ५.३६
लिङ्गत्वेनाङ्गरूपेण २.१८
लिङ्गदेही शिवात्मायं ७.६५
लिङ्गमित्युच्यते साक्षा ३.४
लिङ्गस्थलं त्रिधा ज्ञेयं ३.५
लिङ्गस्थलं शिव: साक्षात् २.३३
लिङ्गस्थलं शिव: साक्षात् ५.७
लिङ्गस्थलमुपास्यं २.१३

लिङ्गस्थलाश्रया शक्तिः	२.२२	विलोमतो विभक्तानि	४.४१
लिङ्गस्य पूजावसरे	७.२०	विशुद्धौ तु यकाराख्या	६.४८
लिङ्गस्यावसरे यत्तद्	७.२१	विश्वो जाग्रदवस्थायां	५.६२
लिङ्गाङ्गत्वशिवात्मत्व	२.१७	विश्वो माहेश्वरं भक्त	४.१६
लिङ्गाङ्गसंगमपद	६.४५	विषयाणां विषयिणा	८.६७
लिङ्गाङ्गस्थलयोरैक्यं	२.३३	विष्णोः स्वयं देशिक एव	१.११
लिङ्गाङ्गैक्यस्वरूपाय	८.८९	वेदनेनैव तेनाय	८.४
लिङ्गाङ्गोपाधिभेदेन	२.११	वेधामनुक्रियाकारा	५.५४
लिङ्गार्पणधिया आत्मा	७.३६	वैद्युतादिमयं रूपं	७.३४
लिङ्गार्पणधिया भुङ्क्ते	७.३६	व्यवहारदशायां तु	५.२१
लिङ्गार्पितोपभोगेन	७.२४	व्योमाङ्गं ज्ञानहस्तं स्यात्	६.३६
लिङ्गे निधाय मनसा	४.३०	शक्तयः षड्विधा ज्ञेयाः	३.२३
लिङ्गे समर्प्य बहुशो	४.३१	शक्तिः प्रवृत्तिराख्याता	२.२७
लिङ्गे साक्षात्प्रसादे	७.४९	शक्तिभक्त्योर्न भेदोऽस्ति	२.२७
लिङ्गैक्यनैष्ठिकतया	४.३२	शक्तिरप्रतिमा	२.२०
लीयते गम्यते यत्र	३.३	शक्तिरेव स्मृता भक्ति	२.२६
लीयते पुनरन्ते च	२.४	शक्तिवैचित्र्यतो रूपं	२.२८
लीलया सकलाकारा	८.६५	शक्तीनामधुना तासां	३.२४
लेपोऽज्ञं न जहेज्जातु	७.५९	शक्त्या प्रपञ्चसृष्टिः	२.२८
लोकयोरुभयोरैहिका	८.७९	शरणस्थलमित्याहुः	६.३७
वक्ष्ये संक्षेपमात्रेण	४.१	शरणस्थलमैक्यं हि	५.८७
वन्ध्या सकामा यदि	८.५७	शरीरप्राणजीवानां	४.४१
वसति विमलविद्या	१.१०	शरीरमिन्द्रियं प्राणा	८.४१
वस्तुनो भाव उत्पन्नो	६.२९	शरीरादिपदार्थांश्च	७.६१
वागङ्गं लिङ्गमेवार्थः	५.३४	शान्त्यतीता परा शक्तिः	३.२५
वाचोर्वाक् त्वक् त्वचः	६.२२	शान्त्यतीतोत्तरा नाम	३.२४
वातुलाख्ये महातन्त्रे	१.२६	शिकारः शिवलिङ्गं	६.४९
वायोरग्निसमुत्पत्ति	४.३६	शिकारो मेदसि स्थाति	६.५३
वाय्वङ्गं प्राणलिङ्गि	४.३९	शिलालेखा स्थलीलेखा	८.२७
विततविविधलोक	१.१०	शिव एव स्वचिच्छक्त्या	३.३५
विद्याकलाकलितरूप	३.३१	शिव एव स्वयं लिङ्ग	३.२
विधयश्च निषेधाश्च	८.४२	शिव एव स्वयं लिङ्ग	५.२
विधिः कर्तव्यरूपो	५.१८	शिवतत्त्वं शिवाचार्याः	२.२
विधीयते सदैवास्य	७.९	शिवत्वेनात्मरूपेण	२.१७
वियोगो नेक्ष्यते क्वापि	५.६८	शिवप्रणीतवाच्यार्थ	६.५५

शिवप्रदायिनी नित्यं	६.४३
शिवप्रसादामलविग्रहायै	१.४
शिवमन्त्राभिधा मन्त्र	६.४४
शिवयोगसुखावाप्त्या	४.६
शिवरूपतया सर्वं	८.७
शिवलिङ्गं तथा चैव	३.२१
शिवलिङ्गं तथा चैव	३.४४
शिवलिङ्गसमायुक्तं	५.७६
शिवलिङ्गस्थलं साक्षा	३.४०
शिवलिङ्गस्थले ज्ञान	३.४१
शिवविद्याप्रदातार	५.१९
शिवसिद्धान्तकं तन्त्रं	१.४०
शिवसिद्धान्तकं तन्त्रं	२.३४
शिवसिद्धान्तकं तन्त्रं	३.४६
शिवसिद्धान्तकं तन्त्रं	४.४६
शिवसिद्धान्तकं तन्त्रं	५.९०
शिवसिद्धान्तकं तन्त्रं	६.५६
शिवसिद्धान्तकं तन्त्रं	७.६९
शिवसिद्धान्तकं तन्त्रं	८.९३
शिवसिद्धान्तकं तन्त्रैक	५.१९
शिवस्यैव शिवोपास्ति	२.१६
शिवांशत्वं स्वकं	५.२३
शिवागमैः शिवाद्वैत	१.२९
शिवाय चार्पितं तेज	७.४४
शिवार्पितानि द्रव्याणि	७.७
शिवेन देव्यै कथितं	१.२४
शिवेन सह भोगेन	४.७
शिवोक्तं शिवसिद्धान्त	१.३३
शिष्यत्वेनायमात्मा	५.१२
शिष्यपाणितले दत्ता	५.४१
शुक्तिः कर्मपदं सरोरुह	८.२३
शुभकर्माशुभं कर्म	८.२९
शुभाशुभात्मिका कर्म	८.२७
शैवाद्वैतशिरोव्रताङ्ग	१.१५
श्रीनाकराजपरमेश्वर	१.१७
श्रीमदैपुरसोमेश	८.८९
श्रीमद्देशिकवोप्पनाथ	१.१६
श्रीलिङ्गार्पणसद्भाव	१.३८
श्रीलिङ्गार्पणसद्भाव	७.१
श्रीलिङ्गार्पणसद्भाव	७.६८
श्रीवीरव्रतसत्यधर्म	१.१६
श्रीशिवानुभवसूत्रमुत्तरं	८.९२
श्रुतिस्मृतीतिहासैश्च	१.२८
श्रोत्रवाचोर्न भेदोऽस्ति	६.९
श्रोत्रस्य वाचः शब्दस्य	६.१२
षट्सु लिङ्गेषु सर्वत्र	७.४
षट्स्थलानि विभक्तानि	४.४०
षट्स्थलानि विभागेन	४.४२
षट्स्थलेषु प्रविश्यैषा	४.२१
षडक्षरात्मके लिङ्गे	७.२८
षडङ्गयोगमार्गेण	५.८३
षड्धाभक्तिसमेताना	४.२७
षड्रसास्वादनं	८.२५
षड्विधाकारतो भिन्ना	४.२३
षड्विधाश्रमिणामेषां	४.३४
षण्णामैक्यादिभक्तानां	४.२३
षष्ठं ब्रह्म भवेत्तारं	६.५०
संक्षेपाद् विस्तरेणापि	३.१
संयुयोज त्रिधाभूतं	५.५७
संयोग इति विद्वद्भिः	५.३४
सं[illegible]ग एव सायुज्[illegible]	५.१५
र[illegible]गं मकारः स्यात्	५.३२
[illegible] प्रोक्त	५.२७
संश[illegible]न्या	५.५०
संसक्ते [illegible]स्थल[illegible]हित	७.४८
संसारभ्रान्तिसंत्यागात्	४.७
संसारोऽविद्यया चास्य	५.२२
सकलं दृक्कलाग्राह्य	३.८
सच्चिदानन्दरूपा स्याद्	२.२६
सत्यशुद्धशिवाद्वैत	१.२२

सत्त्वरजस्तमसा ८.१५
सदा लिङ्गाङ्ग संयोग ५.२०
सदा स्वाङ्गेषु संयुक्त ५.६३
सद्योजाताह्वयां मूर्ति ६.१६
सद्रूपं भावलिङ्गं ३.११
सन्ति भोदोपभेदाश्च ३.४६
सन्मात्रं भावलिङ्गं ३.७
सन्मात्रं लिङ्गमाख्यातं ५.२८
सबाह्याभ्यन्तरं यत्तत् ३.१४
समर्पकोऽयं मन्त्रः ७.२९
समर्पणं च तादात्म्य ७.५६
समर्पितं षड्विधवस्तु ७.४३
समर्प्य सोऽहमस्मीति ७.६१
समानधर्मिणीत्वेन २.२१
समाया शक्तिराख्याता २.३१
समौ निम्नोन्नतौ नाभि ८.६०
सम्यग्ज्ञानमहं साक्षा ८.४
सम्यग्योगो हि संयोगो ५.१४
सर्पिषा लिप्यते पाणी ७.५९
सर्वं भ्रमात्मकमिदं ४.२८
सर्वं लिङ्गमयं रूप ७.६५
सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः ४.२०
सर्वज्ञत्वं च तृप्तित्वं ५.५
सर्वज्ञत्वादिभेदैश्च ५.४
सर्वतोमुखमाभाति ६.४
सर्वमात्मतया भाति ८.३७-४३
सर्वाङ्गलिङ्गमेव स्यात् ७.६६
सर्वाङ्गलिङ्गसाहित्यं १.३७
सर्वाङ्गलिङ्गसाहित्यं ६.१
सर्वाङ्गलिङ्गसाहित्यं ६.३
सर्वाङ्गलिङ्गसाहित्यं ६.५५
सर्वेन्द्रियमुखागामि ७.२६
सर्वेषां लयभूतत्वा २.३
सर्वेष्वङ्गेषु सर्वत्र ६.२
सर्वैरुपनिषद्वाक्यैः १.३०
सवितुः पदमङ्गं स्याद् ७.५३
सा कला परमा सूक्ष्मा ५.४५
साक्षाच्छिवप्रसादाय ७.८
साक्षात्परशिवश्चेति ५.८८
साक्षाल्लिङ्गे शिवाख्ये ७.४७
साक्षिणी सत्यसम्पूर्णा २.२०
सादाख्यतत्त्वमुदितं ३.२९
सा दीक्षा परमा शैवी ५.३९
साधकत्वादसावात्मा ५.११
साध्यः परशिवः साक्षा ५.८५
साध्यत्वात् षट् प्रपद्यन्ते ५.८४
साफल्यं विफलत्वमाकृति ८.२३
सा बाह्याभ्यन्तरं साक्षा ५.४६
साभ्यन्तरङ्गबहिरङ्ग ३.३०
सामरस्यप्रभावेण ५.८१
सा शक्तिर्द्विविधा भूता २.२१
सिद्धं ततः प्रसिद्धं हि ७.२२
सुखादिमय इत्येवं ७.३५
सुप्रतिष्ठितलिङ्गस्य ७.१६
सुषुप्त्यवस्था योगाङ्गं ४.९
सूक्ष्मः स्यात्प्राणलिङ्गीति ४.१४
सैवाद्वैताभिधा भक्ति ८.४६
सोऽयं षट्स्थलरूपेण ७.२७
सोऽयमात्मा शिवाङ्गं ५.४
सोऽयमात्मा स्वयं ५.२१
सोऽश्नुते सकलान् भोगान् ७.६४
सोऽहं तत्पतिशिवदासोऽहं ८.८५
स्थकारः स्थानवाची २.५
स्थलं च चरलिङ्गाख्यं ३.३८
स्थलं चिन्मात्रमेव २.१८
स्थलं तदेतदित्याहुः ४.१८
स्थलं नाम परं तत्त्वं २.१२
स्थलनिर्देशसंज्ञं तु १.३५
स्थलात् समुत्थितं ३.३९
स्थलानां शक्तियुक्तानां ३.२७

स्थिरा यत्र परा भक्ति ४.१८
स्थूलं ब्राह्ममिति प्रोक्तं ३.१४
स्थूलं माहेश्वरं भक्त ४.१५
स्थूलद्रव्यं भवेद्रूपं ७.१०
स्थूलसूक्ष्मादिभेदेन ६.४३
स्थूलाख्यं प्रविविक्ताख्य ७.१०
स्थूलाङ्गे स्थूलरूपेण ६.१९
स्पर्शमादानयोस्तद्वद् ६.९
स्पर्शः समादाय बहुप्रकार ७.४०
स्प्रष्टव्यं चार्पयित्वा स्वय ७.४८
स्फटिकस्वच्छयोर्दीप ५.६५
स्फुरणाद्वै पराशक्तेः ३.३६
स्मर्तव्यं चार्पयित्वा विशद ७.५०
स्यन्दमाना इमाः सर्वा ८.६१
स्यान्नादादिमयः शब्दः ७.३४
स्वच्छन्दाचारवर्तिन्या ८.२४
स्वज्ञानशक्तिविभवो ३.३२
स्वतन्त्रतापि चालुप्त ५.५
स्वभावसिद्धं निजभक्ति ७.४२
स्वयं गृहीत्वा विविधोपदिष्टं ७.४१
स्वयं समायातमुपाधि ७.३९
स्वयमागतवस्तूनि ७.५
स्वयमेव परं लिङ्गं ७.५७
स्वरूपलक्षणं चैव ३.२७
स्वलीनषट्त्रिंशदखण्डधाम्ने १.३
स्वविशुद्धतया तानप्य ८.१५
स्वशक्तिक्षोभमात्रेण २.१०
स्वशक्तिवैभवाच्चैव ३.२३
स्वशक्त्या युगपत् साक्षात् २.१५
स्वस्मिन्नेव स्थिताऽविद्या ५.२३
स्वस्मिन्नेव स्वयं यान्ति ८.२
स्वाङ्गे माहेश्वरात्मन्युप ७.४६
स्वातन्त्र्येण सलील ८.१४
स्वात्मादिशक्तिघटितं ३.३०
स्वानुभूतिनिबन्धेन ५.७७
स्वानुभूतिविभवानुगाहिना ८.९२
स्वेच्छाचारसमाचारः ८.७
स्वोपभोगाय यत्कार्यं ७.३
हस्तमस्तकसंयोग ५.४०
हिरण्मये परे कोशे ५.५०
हृदयं हृदयस्येति ६.२२
हृदयं हृदयस्येति ६.२७
हृदयाकाश इत्येतत् ६.१८
हृदयाङ्गे महालिङ्गं ६.६
ह्रस्वः स्याल्लिङ्गमेवाङ्गं ५.३३